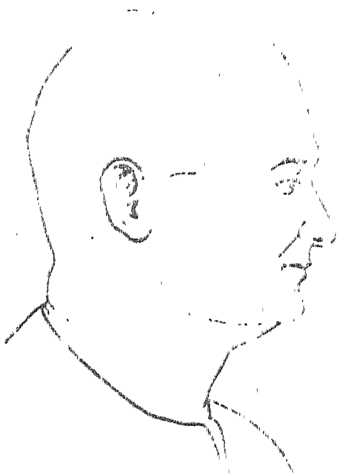
राहुल सांकृत्यायन



सतमी के बच्चे

किताब महल

चतुर्थ संस्करण, १९५५

प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद।
मुद्रक—यूनियन प्रेस, इलाहाबाद।

विषय-सूची

१

सतमी के बच्चे

(गरीबी की भेंट)

सतमी अहीरिन पन्दहा में सबसे गरीब स्त्री थी। पन्दहा दो सौ बीघे का एक छोटा गाँव था; और उसमें ब्राह्मण ३०, और अहीर १०, कहार २, बढ़ई १, कुम्हार १, चमार ५—कुल ४९ घर थे। इतनी घनी बस्ती और बलुआ जमीन के कारण वहाँ के सभी लोग गरीब थे। और सतमी की अवस्था तो सबसे दयनीय थी। उसका पति चौथी सन् ४ (१३०४ फसली, १८९७ ई०) में बंगाला चला गया था। वहाँ वह क्या करता था, यह किसी को मालूम नहीं। सतमी के नाम उसका मनीआर्डर या चिट्ठी भी आते किसी ने नहीं देखा। घर पर सतमी के पास न एक अंगुल खेत था, न एक पूँछ गाय या बकरी की। उसकी सम्पत्ति थे दो पुराने छोटे-छोटे खपड़ैल के घर और कुछ मिट्टी-काठ के बर्त्तन। घरों में किवाड़ या चाँचर न था, और न उसकी आवश्यकता ही थी। वहाँ चुराने को रखा ही क्या था ?

सतमी की विपत् का यहीं अन्त न था। उसके पाँच बच्चे थे। सबसे बड़ी सुखिया (नाम से बिल्कुल उलटी) थी, फिर चार लड़के—बुद्धू, सुद्धू, मद्धू, और सन्तू। इन छः प्राणियों का पालन सतमी कैसे करती थी, यह समझना मुश्किल है। गाँव के

मालिक—ब्राह्मण लोग बहुत गरीब थे, इसलिये सतमी को बराबर पीसने-कूटने का काम मिलना आसान न था, तो भी वही उसके लिए जीविका का साधन था। दूध छोड़ने के बाद सतमी के बच्चों को शायद ही कभी पेट भर खाना मिला हो। फागुन-चैत में सतमी और कुछ बड़ी होने पर सुखिया भी खेत काटने जाती थी। छोटे बच्चे डलिया ले पिछुआ बीनने (खेत में छूटी बालों को.चुनने) जाते थे। उस समय उन्हें मजदूरी में कुछ अधिक अनाज मिल जाता था, लेकिन भविष्य का ख्याल करके सतमी उसे बहुत संकुचित हाथ से खर्च करती थी। बैसाख-जेठ में भी कुछ महुआ और मजदूरी से काम चल जाता था। वर्षा होते ही चकवँड़ जम जाता था, फिर माँगे नमक के साथ चकवँड़ का साग और आम की गुठलियों को पीसकर बनी रोटी महीने-भर चलती थी। भादों में जब फूट फूटते थे तो सतमी के लड़के जिसके खेत पर जाते, वह दो फूट दे देता था। जब तक खेत की कटआई में भी कुछ साँवा, मँड़ुआ, कोदो, साठी मिल जाती थी।

दसहरे का मेला देखने के लिए जब पन्दहा के गरीब से गरीब लड़के भी दो-चार गोरखपुरी (पैसे) पा जाते, और वे नये या धुले कुर्ता, धोती पहन मेला जाते, उस समय भी सतमी के बच्चों को न एक कौड़ी का ठिकाना था, और न उसकी फटी लँगोटी ही बदलती थी। पैर अपना था, इसलिये वे मेले में चले जाते थे। जब दूसरे लोग अपने बच्चों को खिलौना, बाजा, गट्टा या मूली खरीदते, तो वे उन्हें चाह-भरी आँखों से चुपचाप देखते रहते। किसी का दिल पसीजता, या 'नजर लगने का डर लगता, तो वह एक मूली या एक गट्टा उन्हें भी थमा देता। घर आने पर जब लड़के थैले या अँगोछे में लाई-गट्टा ले बाहर खेलने निकलते, तो उस समय सतमी के बच्चों की बन आती; क्योंकि बच्चे सयानों

से अधिक उदार होते हैं, उन्हें साथियों में बाँटकर खाने में आनन्द आता है।

❀ ❀ ❀

पन्दहा में धान के खेत न थे। वहाँ ऊख बोने का बहुत रिवाज था। गाँव में पत्थर के सात कोल्हू थे, जो अगहन से ही चलने लगते थे। पत्थर के कोल्हू को धोने, घानी चलाने और बैल हाँकने के काम में कई मजबूत हाथों की आवश्यकता होती थी, इसीलिए पाँच-सात घर मिलकर एक-एक कोल्हू चलाते थे। अपने गन्ने के अनुसार बारी-बारी से हफ्ते में एक या दो दिन हर एक की ऊख पेरी जाती थी। काम करने और बैल देने में भी लोग अपने-अपने हिस्से या चारे का ख्याल करते थे।

सतमी के बच्चों को जाड़ा काटने के लिए वे पत्थर के कोल्हू कल्पवृक्ष थे। वे भोजन और वस्त्र दोनों ही—चाहे जिलाने भर को ही सही—देते थे। वे इन कोल्हाड़ों में ऊख की पत्ती और सीठ की आग चूल्हे में सदा बनी रहती थी; और पेट खाली करने के लिए समय-समय पर पूँछ की ओर से भौर को बाहर निकाल दिया जाता था। सतमी के बच्चे बड़ी रात तक वहाँ बैठकर आग तापते रहते थे। काम करने वालों के हाथ को ठिठुरने से बचाने के लिए एक जगह रात भर और आग जलाई जाती थी; वहाँ वे घुसकर बैठ जाते थे, यद्यपि वहाँ उनको उतनी स्वतन्त्रता न थी। इसके लिये उन्हें कभी-कभी झिड़की खानी पड़ती थी। नींद का जोर होने पर वे चूल्हे झोंकने के लिए रखी पत्तियों में घुसकर सो जाते थे। सवेरे धूप निकलते ही, दीवार की आड़ में जरा घाम ले, वे ऊख के खेत पर चले जाते थे, और ऊख छीलने में मदद करने के लिए उन्हें दो-चार ऊख मिल जाती थी। पहर दिन-चढ़े जब बाँटने की घानी चढ़ती थी, तो अपना घड़ा ले उनमें से कोई एक जरूर

कोल्हाड़ में हाजिर रहता था। उस घानी में पानी ज्यादा डाला जाता था, इसीलिये उसे पनिऔरा कहते थे। पहले काम करने वालों को रस बाँटा जाता था, पीछे सतमी के लड़कों जैसों की बारी आती थी। उस वक्त उन्हें भी एक सेकी (रस उठाने का हैंडिल लगा मिट्टी का बर्तन) रस जरूर मिल जाता था। कड़ाह से गुड़ उठाते वक्त परात में चाटने को भी जरा सा गुड़ भी पाते थे। माघ पूस में सतमी खेत से जाकर बथुआ का साग ला देती थी, यद्यपि इसके लिये सरसों खोंटने का इल्जाम लगा लोग चार बात भी सुनाते थे।

* * *

मुद्दू और गद्दू को जूड़ी आने से सारा हो गये थे। जड़ैया पहले रोज आती थी, अब इधर एक सप्ताह से वह अँतरिया (एक दिन अन्तर देकर आनेवाली) हो गई थी। आज तीसरे पहर को उसकी बारी थी। लोग कहते हैं, खट्टा, मीठा, साधा भोजन जूड़ी में काल है, लेकिन सतमी के घर में कोल्हाड़ से मिले रस और मजदूरी में प्राप्त थोड़ी सी मटर के सिवा रखा ही क्या था? जूड़ी ने आकर ठंडक से शरीर को कँपाना शुरू किया। मुद्दू और गद्दू माँगकर लाये कोदों के पयाल पर फटी गुन्डों में दबके, धूप में पड़ रहे। ठंडक ने जोर किया तो "अरे मा!" करने लगे। माँ कहाँ से कम्बल और रजाई लाने? उसने आकर अपनी देह से उनके शरीर को छाप दिया, और मुँह से कुछ ढाढस दिया। दुःख की घड़ी लम्बी जरूर होती है, लेकिन उसे भी काटना ही पड़ता है। जड़ैया का जोर कम होते बुखार बढ़ चला। सतमी किसी के घर पीसने चली गई।

सुखिया अब पन्द्रह वर्ष की थी। उसका ब्याह हो गया था, किन्तु बेचारी का भाग्य ऐसा फूटा था कि ससुराल की गाली मार के

कारण वह माँ के साथ ही रहती थी। किसी के घर पीसने का काम कर मजदूरी में थोड़ी-सी मटर पा, घर लौटी थी। सुद्धू ने बहन को आते देख खाना माँगा। सुखिया जब तक मटर को डलिया में सामने रख, भूनने के लिये पड़ोस से आग लाने गई, जब तक सुद्धू, मद्धू ने मटर खाना शुरू कर दिया। प्यास में पास रखे घड़े में से कुछ खट्टे शर्बत को भी पी लिया।

पूस का अन्त था। मद्धू की जूड़ी इधर चली गई थी, किन्तु उसका पेट अब भी बढ़ा हुआ था। हाथ से देखने से बाईं पजरी के नीचे लम्बी तिल्ली दिखाई पड़ती थी। सुद्धू की अवस्था चिन्ता-जनक थी। उसकी जूड़ी लगातार जारी थी। मुँह हल्दी के रङ्ग का हो गया था। आँखें भीतर घुस गई थी। ठठरी की एक-एक पसली गिनी जा सकती थी। सारे शरीर में हड्डी के सिवा यदि कुछ दिखाई देता था, तो वह था कुंडे की भाँति फूला पेट। हाथ, पैर और मुँह पर सूजन आ गई थी। अब वह चल-फिर न सकता था। दिन में सुखिया पयाल बिछाकर धूप में उसे सुला देती थी, रात में वह पिस्सू-भरे घर के भीतर गुन्डी के नीचे पड़ा रहता था।

सतमी का चित्त बहुत आशंकित हो रहा था। उसने अभी पिछले ही साल ब्राह्मण के लड़के धनपत को इन्हीं लक्षणों से मरते देखा था। गाँव में जिस किसी ने जो कुछ अडूस, भटकटैया कड़वी से-कड़वी दवा पिलाने को कहा, उसे सतमी ने समझा-बुझाकर सुद्धू को पिलाया, लेकिन कुछ लाभ न हुआ। एक आदमी ने कुनैन की तारीफ की। सतमी ने डबडबाई आँखों से गिड़गिड़ाते हुए पड़ोसिन ब्राह्मणी से कहा—"बहिनी, एक आना पैसा कहीं से उधार दो, सुद्धू को कुनैन लाकर दूँगी। जी जायगा, तो तुम्हारी टहलवाही करेगा।" ब्राह्मणी ने चुपके से एक आना पैसा दे दिया।

सतमी स्वय ही रानी की सराय जा डाकखाने से कुनेन खरीद लाई। सुद्धू को कुनैन से फायदा जरूर हुआ, और दो सप्ताह के लिए बुखार छूट गया, लेकिन पीछे बुखार फिर शुरू हो गया। धीरे-धीरे अवस्था बिगडती गई। सतमी कुनैन खरीदने के लिए अब और पैसा कहाँ से लाये ? उसने सब कुछ राम पर छोड दिया।

माघ के समाप्त होते-होते सुद्धू मर गया। लोगो ने ले जाकर उसे नाले मे गाड दिया। सतमी "हाय सुद्धू ! हाय सुद्धू !" करती महीनो रोती रही। सुद्धू के लिए अच्छा ही हुआ। दुनिया मे आकर उसने क्या सुख देखा ?

❀ ❀ ❀

पिछले साल जो दशा सुद्धू की हुई, दूसरे साल वही हालत मद्धू की हुई। वह भी तीन मास जडैया मे घुलकर मर गया।

❀ ❀ ❀

बुद्धू अब सत्रह वर्ष का था। पिछले साल उसने मालिक का हल पकडा था। माँ बहन भी कुछ मजदूरी कर लाती थीं। सन्तू लोगो का गोरू चराता था, इस तरह सतमी को अब अच्छे दिनो की आशा हो चली थी, लेकिन भाग्य को यह मजूर न था। अब की जड़ैया ने बुद्धू को आ पकडा। और ऐसे जोर से कि कातिक मे रवी की फसल बोने के समय वह मालिको के खेत पर न जा सका। ब्राह्मण होने से हल छूने मे बेचारो का धर्म जाता था। बडी मुश्किल से जहाँ तहाँ से मन्द लेकर अगहन के अन्त तक उन्होने अपना खेत बोया। बुद्धू की हालत खराब होती गई। सतमी ने मालिक से पैसा उधार ले-ले दो-तीन बार कुनैन लाकर बुद्धू को दिया, लेकिन बीमारी ने कुछ न सुना। पूस के अन्त तक बुद्धू भी चल बसा।

❀ ❀ ❀

बुद्धू के मरने के दो साल बाद सन्तू ने भी उनका अनुसरण किया। सतमी सुखिया के साथ जीती रही, लेकिन उसकी हालत अब आधे पागल-सी थी। रात और दिन जिस समय, उसे अपने बच्चे याद आते, वह विलापकर रोने लगती थी—"हाय बुद्धू! क्या पिसाई करके तुम्हे इसीलिए पाला था। तुम मुझे धोखा देकर चले गये! हाय, मैं कितनी निर्लज्ज हूँ। अपने चार बेटों को खाकर अब भी बैठी हूँ! हाय, दैव मुझे काहे नही उठा लेते!"

२

डीह बाबा

(अकाल की बलि)

जीता भरजाति के थे। कौन सी भरजाति ? ईसा से प्राय दो हजार वर्ष पूर्व, जब आर्य भारत मे आये, तब से हजारो वर्ष पूर्व, जो जाति सभ्यता के उच्च शिखर पर पहुँच चुकी थी, जिसने सुख और स्वच्छतायुक्त हजारों भव्य प्रासादोंवाले सुदृढ नगर बसाये थे, जिसके जहाज समुद्र मे दूर तक यात्रा करते थे। व्यसननिमग्न पाकर आर्यो ने उसके सैकडो नगरो को ध्वस्त किया। तो भी उसके नाम की छाप आज भारत देश के नाम मे है, वही भरत-जाति या भरजाति।

पराजित होने पर भी भरजाति आर्यो को सभ्यता सिखलाने मे गुरु बनी। दुनिया मे ऐसे अनेक दृष्टान्त हैं, जहाँ पराजित सभ्य जाति विजेता असभ्य जाति को अपनी सभ्यता-द्वारा पराजित करने में सफल हुई। सिन्धु की उपत्यका (जहाँ इन दोनों जातियो का सङ्घर्ष हुआ) मे भी सैकडो वर्ष पीछे भरजाति शासन-वाणिज्य, कला-कौशल सिखलाती और दासवृत्ति करती बसी रही। सभ्य बन जाने पर दीर्घकाय, गौरवर्ण, भूरे केश, लम्बी खोपडी और नीली आँखो वाले आर्यों को ये श्यामवर्ण चिपटी नाको और खर्वकाय लोग बुरे लगने लगे। बढती हुई जनसख्या, पास-पडोस में रहने से सन्तति मे वर्णसङ्करता और आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता—ये बातें थी,

जिनके कारण आर्य लोग सिन्धु-उपत्यका से उन्हें निकालने पर मजबूर हुए। धीरे धीरे भर लोग पश्चिम से पूर्व की ओर हटने लगे। आर्य भी, संख्यावृद्धि के साथ, नये प्रदेशों की खोज में पूर्व की ओर फैलने लगे। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे यद्यपि दोनों जातियों में रुधिर सम्मिश्रण भी अधिक होता गया, और, समय पाकर सारी भर जाति ने अपनी भाषा छोड़कर आर्यों की भाषा को अपना लिया, लेकिन इन बातों ने भिन्नता की खाई को पाटने में मदद न पहुँचाई।

सिन्धु-उपत्यका की इस सभ्य जाति (जिसके प्राचीन नगरों के भव्य ध्वंसावशेष मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के रूप में आज भी जगत् को चकित कर रहे हैं) की एक प्रधान शाखा पूर्वीय युक्तप्रांत और बिहार में जमकर भर के नाम से प्रसिद्ध हुई।

जीता भर के पूर्वज कनैला में कब पहुँचे, इसका निश्चय करना आसान काम नहीं है। "बड़ी" पोखर की सील-सी लम्बी-चौड़ी ईंटें बतलाती हैं कि यह समय गुप्त-काल से पीछे नहीं हो सकता। सम्भव है ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी (शुङ्गकाल) में वे ईंट वहाँ मौजूद हों, जब कि, पतञ्जलि जैसे ब्राह्मणों ने, बुद्ध के समता के उपदेश एवं मौर्यों के सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव से नष्ट होने वाली वर्ण भेद की भयङ्कर व्याधि को फिर से उज्जीवित किया। ब्राह्मण-शाही ने अब पुरानी जातियों को फिर सिर उठाने का मौका न देने का पक्का इरादा कर लिया था। फलतः माण्डलिक राजा या बड़ा सामन्त बनने के लिए अब गोरवर्ण या ब्राह्मणों का पक्का अनुयायी होना अनिवार्य हो पड़ा।

उस समय जीता के पूर्वज कनैला और उसके आस-पास के कितने ही गाँवों के मालिक थे।

बारहवीं शताब्दी में भी कनैला जीता के पूर्वजों का था, किन्तु

गुप्त, चेस, प्रतिहार, गहडवार, सभी के शासनकाल मे बराबर भर जाति को नीचे गिराने का प्रयत्न किया गया। ऐसा क्या न होता जबकि, इस शूर जाति ने—'चाहे कुछ भी हो, ब्राह्मणशाही के सामने सिर न झुकायेंगे'—की कसम खा रखी थी। ब्राह्मणों का फतवा निकला—बडी जातिवाले न सूअर पाल, न खाये। भरो ने कहा—कल तक तो इनके भी पुरखा सूअर के मास का भोग लगाते थे, आज यह नई बात क्या? पास के मठ के बौद्ध भिक्षुको की सम्मति अपने अनुकूल पाकर उनकी धारणा और भी पक्की हो जाती थी। उन्हे क्या मालूम था कि, एक दिन उनकी सन्तान को इन्ही ब्राह्मण-न्यायधीशो से पाला पडेगा और उस समय कोई भिक्षु उनकी हिमायत करने के लिए नही बच रहेगा?

काशीपति जयचन्द तुर्कों से युद्ध करते मारे गये। उनके पुत्र हरिश्चन्द्र कितने ही वर्षों तक अपने राज्य के पूर्वीय भाग पर शासन करते रहे। पश्चिम से तुर्क आगे बढते आ रहे थे, और, तेरहवी सदी के समाप्त होने से बहुत पहले ही, पूर्व भी तुर्को के हाथ मे चला गया।

कनैला के भर सामन्त निश्चय ही वीर थे, परन्तु वे समझदार न थे। कई बार छोटी छोटी सैनिक टुकडियो को हरा देने से उनका मन बढ़ गया था। आखिर एक बड़ी तुर्क-सेना ने चढाई की। पहले की लडाइया के कारण उनकी सख्या बहुत कम हो गई थी, तो भी भर-सैनिकों ने अपने प्राणो की बाजी लगाकर मुकाबला किया। वह एक एक कर युद्ध-क्षेत्र मे काम आये। उनके कोट पर तुर्की फौजी चौकी बैठा दी गई। उनके फौजी सरदार ने हुक्म दिया सभी मुसलमान हो जायॅ, नहीं तो कत्ल कर दिये जायॅगे। चूडी-वाले पहले तयार हुए। दर्जियो और धुनियो ने भी कुछ आगा-पीछा कर अपनी स्वीकृति दे दी। दूसरी जातियालों मे से कुछ घर

छोड़कर भाग गये, कुछ अपने विश्वास के लिए बलिदान हुए, और कितनों ने इस्लाम धर्म को अपनाकर अपनी प्राण रक्षा की। तुर्क-फौज ने अनाथ नर-स्त्री-बच्चों पर भी अपनी तलवार आजमाई, लेकिन पीछे उसे अपनी हृदयहीनता पर लज्जा आई।

कनैला में तुर्कों की छावनी कितने दिनों तक रही, यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता। हाँ, उनके अत्याचारों का एक उदाहरण वहाँ अब भी विद्यमान है। तुर्क अफसर की आज्ञा थी कि, उसके शासित प्रदेश में जो कोई नवविवाहिता स्त्री मिले, उसे एक दिन के लिये जबर्दस्ती महल में लाया जाय। एक समय एक अभागा ब्राह्मण अपनी नवविवाहिता पत्नी को डोले पर लिये उधर से आ निकला। जिस समय वह और उसके साथी कहार कोट से पूर्व दलसागर पर, जलपान कर रहे थे, उसी समय तुर्क-सिपाही आ पहुँचे। उन्होंने डोले को महल पर ले चलने को कहा। थोड़ी देर तक ब्राह्मण भौंचक-सा रह गया। पीछे, सोचकर, उसने कहा—"मुझे अपनी स्त्री को जरा समझ लेने दें, जिसमें वह डर न जाय, पीछे आप डोले को ले जाएँ।"

देर तक प्रतीक्षाकर सिपाहियों ने डोले के पर्दे को उठाया—देखा, वहाँ तो तरुणों के धड़ से अलग हुए सिर पड़े हैं।

दलसगडा (दलसागर) के पश्चिमी तट पर एक विशाल बरगद के नीचे रखी दूध से सिक्त दो मिट्टी की पिण्डियाँ, आज भी उन तरुणों के प्रेम और तुर्कों के अत्याचार का स्मरण दिला रही हैं।

❀ ❀ ❀

किसकी सदा एक सी बनी रही? तुगलकों और खिल्जियों का अन्त होते होते कनैला के तुर्क-शासकों का भी अन्त हो गया। निर्वाह का सुभीता न होने से बहुत से निवासी जहाँ-तहाँ चले गये। पीछे रह गये चूड़ीवाले, दर्जी, बुनिया, कोइरी और थोड़ी-सी

बची हुई भर सन्तान। लेकिन इन तीन शताब्दियों की बारह पीढियों मे भर कुछ-से-कुछ हो चुके थे। न उनके पास धरती थी, न धन, और न उनका समाज मे पहले के समान स्थान ही था। ब्राह्मणों का विरोधकर उन्होने उन्हे ऐसा शत्रु बना लिया था कि, अब ब्राह्मणो का अनुयायी होने पर भी वह उन्हे क्षमा न कर सकते थे। उन्होने अपनी बेबसी को तुरन्त नही स्वीकार कर लिया, लेकिन सैकडों वर्षों तक बागी बनकर, छापा मारकर भी, उन्होने देख लिया कि, अकेला चना भाड नहीं फोड सकता। तो भी पूर्वजो का उष्ण रक्त उनकी नसो मे बह रहा था। जब अपने बच्चों को, पेट की ज्वाला मे जलते देखते, तब वे और न सह सकते थे। इसीलिए, जीविका के लिए, मजदूरी और सूअर पालने के अतिरिक्त, उनमे से किन्हीं-किन्हीं को चोरी का पेशा भी करना पडता था।

वे अपने पूर्वजो को कितना भूल चुके थे, यह इसी से स्पष्ट है कि, भर-मातायें कनला की पुरानी गाथा सुनाते वक्त अपने बच्चो से कहती थीं—"पहले इस कोट पर एक राजा रहता था, उसकी बडी रानी ने एक पोखरा (तालाब) खुन्वाया, जिसके नाम पर पोखरे का नाम 'बडी' पडा। लहुरी (छोटी) रानी ने वह पोखरा खुदवाया जिसे आज-कल 'लहुरिया' कहते है। राजा की एक लौंडी ने भी एक पोखरा खुदवाया, जो उसकी जाति के नाम पर 'नाउर' कहा जाता है।" वे यह न जानती थी कि, कनैला का वह राजा उन्हीं का पूर्वज था।

शेरशाह, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के प्रशान्त शासन मे भारत की—विशेषत उत्तरी भारत की—अवस्था बहुत अच्छी थी। लूटपाट और छोटे-छोटे सामन्तों की मारकाट रुक गई थी। यद्यपि औरंगजेब ने अकबर की शान्ति और सहिष्णुता की नीति त्याग दी

थी, किन्तु उनका युद्ध-क्षेत्र प्राय दक्षिण-भारत रहा। इस प्रकार सोलहवी-सत्रहवी शताब्दियों में जन-संख्या बढ़ने लगी। लोग अनुकूल भूमि की खोज मे घर छोड़कर, दूर-दूर जाकर, बसने लगे।

सत्रहवी शताब्दी के अन्त मे, मलॉव के पण्डित चक्रपाणि पांडे काशी से विद्या पढ़कर घर लौट रहे थे। रास्ते मे एक हिन्दू सामन्त के यहा ठहरे। लोग तो कहते है, पण्डितजी की धोती को आकाश मे सूखती देख, सामंत उनका भक्त हो गया, लेकिन वास्तविक बात थी पण्डित का अद्भुत पाण्डित्य। सामंत ने ब्राह्मण चक्रपाणि को बहुत-सी भूमि दान दी, और पण्डित जी सरवार (सरयूपार) मे आकर वहाँ बस गये। उन्हीं के नाम पर उस गॉव का नाम चक्रपाणिपुर (चकरपानपुर) पड़ा।

चक्रपाणि की चौथी या पाचवी पीढ़ी (प्राय १७५० ई०) में उनके ज्येष्ठतम वंशज, अपने गाव की भूमि को अपर्याप्त समझ, पास के कनैला गाव में जा बसे। नही कहा जा सकता, उन्होंने कनैला का स्वामित्व "जिसकी लाठी उसकी भैंस" की नीति से प्राप्त किया, या किसी अन्य शान्तिमय ढग से। यह तो निश्चय है कि, कनैला चक्रपाणि की भूमि में सम्मिलित न था, अन्यथा चकरपानपुरवालों का भाग कनैला में क्यों न होता, जब कि कनैलावालों का हक चकरपानपुर मे था।

कनैला मे आकर बसनेवाले प्रथम ब्राह्मण देवता मे न पंडिताई थी और न किसान बनने की इच्छा। उन्होंने अपने रहने के लिए एक छोटा-सा कोट बनवाया। उस समय डाकुओं और शत्रुओं से रक्षा पाने के लिए इसकी बड़ी आवश्यकता थी। गॉव में नौ सौ एकड़ भूमि थी। ब्राह्मणों के अतिरिक्त चूड़ीवाले, दर्जी, धुनिया, कोइरी, चमार और भर वहाँ की प्रजा थे। कनैला की आधी से

अधिक जमीन ऊसर या परती थी। बाकी में खेत थे। जो, गेहूँ के खेतों का अधिकतर भाग उस जगह पर था, जहाँ पुरानी बस्ती का कोट और डीह था। प्रथम पुरुष के तीनों पुत्रों की बढ़ती सन्तानों के भूमि का बँटवारा कर लेने पर पहले जैसा ठाकुरी ठाट नहीं चल सकता था। अब उन्होंने धान के खेतों को खास अपने जोत में रखा, क्योंकि उसमें परिश्रम कम करना पड़ता था और दूसरे खेतों को अपने भर मजदूरों के जिम्मे कर दिया।

भर अपने अतीत गौरव को भूल चुके थे। बीच के चार सौ वर्षों में जिन दुरवस्थाओं से होकर उन्हें गुजरना पड़ा उन्हें याद कर अब वे अपनी वर्तमान अवस्था में ही सन्तुष्ट थे। उन्हें नये मालिकों का बर्ताव अच्छा मालूम होता था। मालिकों ने अपना सारा काम उनके ऊपर छोड़ रखा था। यद्यपि भरों का सूअर पालना उन्हें अच्छा न लगता था। तो भी वे उनकी स्थिति काफी ऊँची समझते थे। इसीलिए वे भर के भरे पानी से मिश्रित गन्ने के शरबत का निःसंकोच पीते थे।

ब्राह्मणों की चौथी पीढ़ी (१८२५ ई० के करीब) की अवस्था बहुत ही भयावह थी। पूर्व दिशा में भदयाँ के राजपूत उनकी बहुत-सी भूमि हड़प लेना चाहते थे और दक्षिण दिशा में बेलहा के बैस। अँगरेजी राज्य कायम हो जाने पर भी वह लाठी और तलवार का जमाना था। यदि उस समय जीता के पूर्वजों का बाहुबल ब्राह्मणों के साथ न होता, तो कौन कह सकता है, कनैलावाले अपनी बहुत-सी भूमि खो न बैठे होते। बेलहावाले जब कितनी ही बार लोहा लेने में असफल हुए, तब उन्होंने सीमा के झगड़े का निर्णय पंच-द्वारा कराना चाहा। कनैलावालों ने भी इसे मंजूर किया। किन्तु घूस लेकर सीमा की रेखा खींचते वक्त पंच कनैला बस्ती के पास की ओर बढ़ने लगे। आखिर चुप रहने का मतलब था और भी

भूमि से हाथ धोना, इसलिए भर, अपने मालिकों के साथ, हथियार ले निकल पड़े। पच भी सँभल गये और वे और आगे न बढ़े। इस पचायत में कनैलावालों के सैकड़ों बीघे धान के खेत निकल गये।

अतीत की शताब्दियों की मार खाते-खाते, उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में कनैला के भर तीन टोलों में बसे थे। सबसे पश्चिमवाले टोले के मुखिया जीता भर थे, इसीलिए उसे "जीता भर का टोला" कहा जाता था। वह कुल नौ घरों की बस्ती थी। सभी घर फूस के थे। प्रत्येक घर में, सूअरों के रहने के लिए, एक छोटा-सा झोपड़ा रहता था। सावन-भादों और माघ-पूस में, सभी के घरों में, नाज का अभाव हो जाता था, लेकिन जीता की अवस्था औरों से कुछ अच्छी थी। सूअर पालने, थोड़ी-सी खेती तथा मालिकों की मजदूरी करने के अतिरिक्त जीविका के लिए जीता के भाई-बन्दों ने कुछ आम, महुवे और ताड़ के वृक्ष भी लगा रखे थे। ताड़ी के मौसिम में शाम को मटकियों में ताड़ी भर वे अपनी पानगोष्ठी रचते थे। थोड़ी देर में वे अपनी वर्तमान अवस्था को भूल जाते थे। उस समय यदि आप वहाँ रहते, तो उनके मुँह से, और भली-बुरी बातों के अतिरिक्त, सैकड़ों वर्षों के पुराने गीत और कथायें भी सुनते। ब्याह और होली के अवसर पर भर स्त्री-पुरुष नृत्य करते थे। चरित्रहीन धनिकों ने जब नृत्य की दिव्यकला को वेश्याओं के हाथ में दे, उसे लज्जा की बात बना दिया, तब भी इन जैसी कुछ जातियों ने, सभी फतवों को ताक पर रख, इस कला के कुछ अंश को जीवित रखा।

सन् १३०४ फसली (१८९७ ई०) का समय था। रोहिणी नक्षत्र में एक भी बूँद न पड़ी। मृगशिरा को तपते देख लोगों को आशा हुई कि, आर्द्रा वर्षा लायेगी, लेकिन आर्द्रा भी चली गई।

कुछ लोगों ने, आगे वर्षा की आशा से, कुएँ से पानी भर कर धान का बीज डाल दिया। पुनर्वसु और पुष्य आये और चुपचाप चले गये। दिन को आकाश में जहाँ तहाँ बादलों को मँडराते और रात को नंगे नील आकाश को देखकर जब कोई कह उठता—"रात निबहर दिन में छाया। कहे घाघ अब बरसा गया" तो किसानों के कलेजे में वज्र-सा लग जाता था। आश्लेषा को सूना देख लोगों का धैर्य विचलित होने लगा। मघा, पूर्वा, उत्तरा, हस्त, चित्रा, सभी में पानी का पता था, सिर्फ ज्योतिषियों के पत्रे में।

सन् ७ का घोर अकाल अपना विकराल रूप धारण कर रहा था। कितने ही कुएँ सूख गये। लोगों ने वृक्षों की पत्तियाँ पशुओं को खिला दीं। दूसरे मजदूरों की भाँति जीता के टोलेवालों की भी चैत की फसल की कमाई आसाढ़ से पहले ही खतम हो जाती थी। सावन, भादों कुछ मजदूरी और कुछ उपवास पर कटते थे। अब की भी उन्होंने उसी तरह बिताया, किन्तु बहुत भेद था। कहाँ और सालों का फाका निकट भविष्य की आशा सामने रखता था और कहाँ इस साल का घोर अन्धकारमय भविष्य!! भदई (खरीफ) और धान की फसल बोई भी नहीं गई। खेतों की भूमि पत्थर-सी कड़ी थी। ताल-पोखरों में जल की बूँद न थी। ऐसी अवस्था में रबी (जौ गेहूँ) की फसल के होने की कौन आशा करता? सावन, भादों और क्वार के तीन महीनों के लम्बे दिन, जिनके लिए लम्बे युग की भाँति कटे हों, वे अगले जेठ तक के ढाई-सौ दिनों का ख्याल मन में आते ही क्यों न काँप उठें! जीता के मालिकों ने कुछ सहायता जरूर की, किन्तु वे कहाँ तक सहायता करते, उनके पास भी तो अन्नपूर्णा का अटूट भण्डार न था!

सूखेमुँह कृशगात्र बच्चों के लिये भूखे माता-पिता अपने सरदार जीता के पास जमा होते थे। उनकी वेदना को प्रकट करने

के लिए शब्दों की आवश्यकता न थी। जीता बहुत चतुर और अत्यन्त सहृदय थे। उनका चित्त यह सब देखकर विकल हो उठता था। वे दिल थामकर कहते थे—"आगम अंधकार में है, तो भी दैव की बड़ी बाँह है। क्या जाने स्वाती बरस जाय!"

जब उनमें से कोई विदेश जाने की बात कहता, तो जीता कह उठते—"हमारी सकड़ों पीढ़ियाँ इसी धरती में गल गईं। अपनी जन्म-धरती छोड़कर विदेश में भागें! धीरज धरो, भगवान कोई रास्ता निकालेंगे।" फिर बोलते—"अच्छा, आज भूरा सुअर मारो। लेकिन थोड़ा-थोड़ा खाना। बच्चों को अधिक देना, सयानों को कम।"

जीता की दृढ़ता और आश्वासन से सब का चित्त, कुछ देर के लिए, शांत हो जाता, किंतु जीता के स्वयं अपने चित्त में प्रलय का दावानल दहक रहा था। वे अगले आठ मास की भयंकरता को भली प्रकार समझते थे। हर तीसरे-चौथे दिन लोग फिर पहुँचते थे। जीता ने अपने दादा के वक्त के आभूषण, अपनी प्रिय अकबरी मुहर की ताबीज का ही नहीं बेच डाला, बल्कि घर में चाँदी-काँसे का जो भी जेवर, जो भी बर्तन या चीज थी, सभी को बेच-बेच कर अपने टोले को जिलाया। हर तीसरे-चौथे दिन एक सुअर मारा जाता था। जैसे-जैसे सूअरों और चीजों की संख्या कम हो रही थी, वैसे ही-वैसे उनकी चिंता भी पराकाष्ठा को पहुँचती जा रही थी। अब तक भूख के कारण रोगी होकर तीन आदमियों की मृत्यु हो चुकी थी!!

अगहन मास के साथ ही अन्न के सभी साधनों का भी अंत हो रहा था। एक अंगुल भी खेत न बोये जाने से अब दूसरी वर्षा तक कोई आशा न थी। इसी समय जीता के कान में उड़ती खबर आई कि—दूर गाँव के उनके एक सम्बन्धी से किसी ने आसाम

के चायबागान मे नौकरी दिलाने की बात पक्की की है, और, वह सपरिवार वहाँ जा रहा है। जीता वैसे चाय-बागान और टापू के आरकाटियों की बात से बडी घृणा करते थे, किंतु उनका मन बदल गया था।

सम्बन्धी के घर जाने पर उन्हें वह आदमी मिल भी गया। उसने जीता से कहा—"तुम भी अपने आदमियों को लेकर चल सकते हो। रास्ते मे खाने पीने का खर्च हम देंगे। आसाम मे चलकर सबको तनख्वाह मिलेगी, रहने को घर मिलेगा। पाँच वर्ष काम करके वहाँ बस जाने पर मुफ्त भूमि लेकर खेती भी कर सकोगे।"

जीता के लिए चारो ओर अधकार था, यही उन्हे प्रकाश की एक पतली-सी रेखा दिखाई पडी। वे समझते थे—'यदि कनैला मे रहे, तो भूख के मारे सारे परिवार की मृत्यु होगी, यदि आसाम जाते हैं, तो कल से ही भूख की यातना दूर होती है।' मृत्यु का पथ छोडकर उन्होने जीवन के पथ को स्वीकार किया। आदमी ने घर के लोगो को लाने के लिए पाँच रुपये दिये।

जीता के टोले के नवो घरो के सभी लोग स्त्री बच्चो-सहित यात्रा के लिए तैयार थे। जीता जब से पूरब जाने का सन्देश लेकर आये, तभी से उनका मन तरह-तरह के विचारो मे डूब रहा था। रह-रह कर एक ठडी हवा का झोका उनके कलेजे के अन्तरतल तक घुस जाता था। ऐन चलते वक्त उन्होने कहा—"थोडा ठहरो, डीह बाबा की वन्दना कर आवे।"

'डीह बाबा' जीता के घर के दक्खिन ओर, थोडी ही दूर पर, थे। वहीं पास मे वह कोट था, जिस पर जीता के पूर्वज कभी

शामक के तौर पर रहा करते थे। पीछे वह तुर्क सामन्त का निवास हुआ !!

'डीह् बाबा' के स्थान को देखते ही जीता अपने को सँभाल न सके। उन्हाने रुद्ध-कण्ठ से कहा—"हे डीह् बाबा, हमने कौन अपराध किया, जो तुम हमारे परिवार को अपनी शरण से हटा रहे हो? क्या अपनी सैकडो पीढियो की तरह हमने हर साल तुम्हे सूअर और कढाई नही चढाई? क्या भले-बुरे मे कभी भी हमने तुम्हे बिसराया? अरे अपने सेवको के इन दुधमुँहे बच्चो पर भी तुम्हे दया नही आई? अच्छा, हम तुम्हारे बालगोपाल जहा जायँ, तहाँ रछपाल करना। लेकिन, हाय! यह पुर्खों का चौरा फिर कहाँ दर्शन करने को मिलेगा !!"

जीता को अधीर होते देख सारा परिवार रोने लगा! उन्हे जान पडता था उनकी कोई प्राणसम वस्तु उस स्थान पर दबी हुई है। सहस्राब्दियो के अत्याचार, अपमान, भूख और यातना की कटुतम स्मृति को विदीर्ण कर आज उस भूमि के साथ का वह अतीत सम्बन्ध अपने प्रभाव को अविरल अश्रुधाराओ के रूप मे प्रकट कर रहा था! लेकिन क्या उससे क्षुधा शात हो सकती थी?

महीनो के कडे सफर के बाद जीता अपने बचे-खुचे साथियो के साथ आसाम पहुँचे। रास्ते मे चार आदमियो की मृत्यु हुई!

❀ ❀ ❀

चाय बागान मे रहते जीता को आज चौंतीस वर्ष हो गये। उनके अधिकाश साथी मर चुके हैं। अस्सी वर्ष से ऊपर पहुँचकर, जीता भी, पके आम की तरह, गिरने की बाट जोह रहे हैं। अब भी वे अपने लडकों को, कभी-कभी, गद्गद स्वर से, कनैला के अपने डीह् की कथा सुनाते हुए कहते है—"बेटा, एक बार जरूर डीह् बाबा को पूजने कनैला जाना।"

कुछ वर्ष हुए कनैला का एक अनपढ़ ब्राह्मण उनके यहाँ पहुँचा। उन्होंने, बड़े समारोह से, सत्यनारायण की कथा, दूसरे से, कहवाई। कथावाचक को थोड़ा-सा पैसा दे ४०) रुपये नकद और कपड़े-लत्ते का चढ़ावा अपने ब्राह्मण को दिया। उसी के हाथ, अपने 'डीह बाबा' की पूजा के लिए, उन्होंने एक पीली धोती और होम का सामान भी भिजवाया।

३

पाठक जी

(दु खान्त अवसान)

औरङ्गजेब की मृत्यु के साथ मुसलमानो के प्रभुत्व का पतन आरम्भ हुआ, लेकिन वही समय है, जब कि मुगलो के दृढ शासन के फलस्वरूप बढी हुई जन-सख्या ने नये नये गावो और बस्तियो को बसाना शुरू किया। पाठक जी के पूर्वज इसी प्रकार १८ वीं शताब्दी के प्रथम पाद मे प गाव मे आकर बस गये। उस समय प के आस-पास घना जगल था, जिसमे भेडिये बहुतायत से रहा करते थे। पश्चिम ओर छोटे द्वीपावाली एक पुरातन विशाल पोखरी थी। उसका महामाई नाम शायद पाठक के पूर्वजो ने स्वय रक्खा था। इसी पोखरी के पश्चिम तट पर त नाम का छोटा गाव था, जिसमे खानदानी सैयद, कारीगर, जुलाहे, साग-भाजिया पैदा करनेवाले मेहनती कोइरी लोग निवास करते थे। यहा की अनेक ईंट-चूने की कब्रो से प्रकट होता था कि कभी यह स्थान बहुत समृद्धिशाली था। प गाव के उत्तर-तरफ भी पुरानी बस्ती के कुछ चिह्न थे। लोग पूछने पर बतलाया करते थे कि यहाँ कभी सिउरी रहते थे, जो पीछे उजड कर दूर देश मे चले गये। अब भी उनके वशज उन सुदूर देशो से रात को कभी-कभी आकर बीजक की सहायता से अपने पूर्वजो के गड़े खजाने का पता लगाया करते है।

सवा सौ वर्ष बाद अपने प्रथम पूर्वज की ५वी पीढी मे (१८४४ ई० मे) पाठक पैदा हुए थे। तब चारों ओर अँगरेजो का राज्य था। प मे एक घर के ब्राह्मणो के १७ घर हो गये थे। उनके साथ आये अहीरो और चमारो के भी कितने ही घर हो चुके थे। यद्यपि अब जगल काट कर बहुत-से खेत बन गये थे, तो भी इतना जगल आसपास मे था, जिसमे भेडिये गुजर कर सकते थे। पाठक अपने पिता के तीन पुत्रो मे मॅझले थे। तीनो भाइयो मे पाठक कम गोरे थे, तो भी इनका रग गेहुँए से ज्यादा साफ था। तीनो ही भाई विशालकाय थे, जिनमे पाठक की शरीर-गठन बहुत ही अच्छी थी। पाठक के पिता के पास खेती के अतिरिक्त काफी गाये भैसे थीं। लडकपन मे पाठक को इन्ही को चराने का काम मिला था। जब पाठक १२-१३ वर्ष के हुए, तभी माता-पिता ने शादी कर दी। पठक अपनी भैंस गायो के चराने मे मस्त रहते थे। घर मे दूध-घी की इफरात थी। यौवन मे पदार्पण के साथ पाठक के रग-पुट्ठो मे भी असाधारण बल की झलक दिखाई पडने लगी। लडके की रुचि कुश्ती की ओर देखकर पिता ने उस समय के रवाज के मुताबिक बरसात मे कसरत कुश्ती सिखाने के लिए एक नट रक्खा। तीन महीने बाद नट को एक भैस इनाम मे मिली। पाठक ने और भी कुछ बरसाते अखाड़े मे बिताई।

❀ ❀ ❀

पाठक के गाँव का कोई आदमी नौकरी करने के लिए जिले से बाहर गया हो, इसका पता नहीं। यही नहीं, आस-पास के गावो से भी शायद ही किसी ने प्रान्त से बाहर पैर रक्खा हो। पाठक की चरवाही की पाठशाला मे भूपर्यटको के ज्ञान का भाण्डार खुला रहता हो, इसकी सभावना नही थी, तो भी पाठक को कही से हवा लगी जरूर। १८ वर्ष की उम्र मे ही पिता के कही रक्खे हुए

डेढ सौ रुपया को लेकर १८६२ ईसवी में वे वैसे ही चम्पत हुए, जैसे ४६ वर्ष बाद उनका नाती उनके रुपये लेकर। युक्त-प्रान्त के इस पूर्वी छोर से सुदूर दक्षिण हैदराबाद को अभी रेल शायद न बनी थी। घर से भाग कर विदेश मे चले—इतना ही उन्हें घर छोडते समय ख्याल आया था। वे हैदराबाद के जालना कस्बे मे अँगरेजी पलटन मे नौकरी करेंगे, इसका उन्हें कुछ ख्याल भी न था। किन्तु रास्ते के साथियो के कारण आखिर एक दिन वे जालना पहुँच गये। वहाँ उस समय एक पूर्बिया फौज रहती थी, जिसमे पाठक के जिले के भी कितने ही राजपूत सिपाही थे, पलटन के सूबेदार मेजर रम्मूसिंह भी उनके अपने ही जिले के थे।

एक दिन पाठक भी अखाडे पर गये। आज कुछ विशेष चहल पहल थी। कुश्ती देखने के लिए पलटन के अफसर भी कुर्सियो पर डटे थे। पाठक ने भी लडने की इच्छा प्रकट की। वे सबसे तगडे आदमी से लडे। १८-१९ वर्ष के नवयुवक के लिए वह आदमी बहुत भारी मालूम होता था, और कुछ लोग सन्देह मे पड़ने लगे थे, किन्तु कुछ ही मिनटो मे पाठक ने उसे चित कर दिया। कप्तान साहब ने कूद-कर तरुण की पीठ ठोकी, कुछ इनाम भी मिला। और सबसे बडी बात यह हुई कि कप्तान साहब ने खुद सूबेदार मेजर से कहकर उसी दिन पाठक को फौज मे भर्ती करा दिया। पाठक ने तनख्वाह और इनाम के १५०) मे से सौ रुपये सूबेदार मेजर के हाथ मे रख कहा—मैं अशर्फियो का कठा पहनना चाहता हूँ। उसी दिन वे रुपये जालना के मारवाड़ी सेठ के पास भेजे गये और दो तीन दिन के बाद पाठक के गले मे सात मुहरो का कठा पड गया।

पाठक शरीर से जैसे बलवान् थे, वैसे ही निशाने मे भी सिद्ध-हस्त निकले। कवायद परेड का काम सीख लेने के बाद ही कप्तान

साहब ने उन्हें अपना अर्दली बना लिया। पलटन के अफसरों को हमेशा कोई उतना काम तो होता नहीं। जाड़ों में साहब बहादुर कभी हैदराबाद के जंगलों में, कभी मालवा और नागपुर के वनों में शिकार करते फिरते थे। पाठक भी उनके साथ रहते थे। कितने ही बाघ साहब मारते थे, और कितने ही पाठक के मारे बाघ भी साहब के नाम दर्ज होते थे। हाँ, बाघ मारने का सरकारी इनाम और उनके चमड़े का दाम ही नहीं, ऊपर से साहब की ओर का भी इनाम पाठक को मिल जाया करता था।

इस जीवन की शिकारयात्राओं की बातें बुढ़ापे में पाठक बड़ी रात बीते तक अपनी सहृदय धर्मपत्नी को सुनाया करते थे। उस वक्त उनकी बगल में बैठा या गोद में लेटा आठ दस वर्ष का उनका नाती उन बातों को सुनता और आश्चर्य करता। कामठी, धुलिया, अमरावती, नासिक यद्यपि उस समय उस बच्चे को बेमानी मालूम होते थे, किन्तु उन्होंने पीछे उसकी भूगोल और नक़्शा पढ़ने में बड़ी दिलचस्पी पैदा की। पाठक कहा करते थे—उधर पहाड़ों में 'बिसकर्मा' (विश्वकर्मा) के हाथ के बनाये बड़े-बड़े महल हैं, वे पहाड़ काट कर बनाये गये हैं। बिसकर्मा ने उन्हें बनाया तो था देवताओं के लिए, किन्तु जब तक देवता आयें-आयें तब तक राक्षसों ने उनमें बसेरा कर लिया। देवताओं को खबर देकर जब वे लौटते हैं, तब क्या देखते हैं कि चारों ओर बोतलें खनखना रही हैं। बिसकर्मा ने शाप दिया—जाओ तुम सब पत्थर हो जाओ। पाठक बड़ी गम्भीरता से पठकाइन से कहते—आज भी वे राक्षस या तो हाथ में बोतल लिये, या ताथेई-ताथेई नाचते, या आँख-मुँह बनाते दिखाई देते हैं। देखने से क्या मालूम होता है कि वे पत्थर हो गये हैं।

पाठक इसी प्रकार साहब के साथ जाड़ों में शिकार खेलते,

गर्मियों में शिमला और ठंडे पहाड़ों पर घूमते मौज कर रहे थे। उन्हें नौकरी करते दस वर्ष हो गये थे और इस बीच में उनके साथी—और कुछ तो उनकी सिफारिश पर—तरक्की करके नायक और जमादार बन गये थे, किन्तु उनको न उसकी उतनी इच्छा थी और न साहब ही वैसा करना चाहते थे।

पिछले सात-आठ वर्षों में पाठक ने कभी एक-आध चिट्ठी तो जरूर भेज दी थी, किन्तु घर आने का जिक्र तक न किया था। 'उड़ती हुई चिड़िया ने' घर पर खबर दे दी थी कि पाठक ने वहीं स्त्री कर ली है। वस्तुतः था भी ऐसा ही। जालना में कितने ही ऐसे भी घर थे जो पूर्विया सिपाहियों की मराठी स्त्रियों की सतान थे। ऐसे ही एक परिवार की स्त्री उनकी चिररक्षिता हो गई थी। उससे उन्हें एक पुत्र भी हुआ था। पाठक ने उसके लिए घर भी बनवा दिया था। शायद पाठक का वह पुत्र या उसकी सन्तान अब भी जालना में हो, (यदि जालना की अँगरेजी छावनी के टूटने के साथ वे अन्यत्र न चले गये होंगे)। आठ-नौ वर्ष बीत गये। पाठक के पिता भी मर गये। पाठक के भाइयों का भी बर्ताव उनकी स्त्री के साथ कुछ बहुत अच्छा न था। स्त्री ने अपने भाई को हैदराबाद भेजा। पाठक स्वयं तो न आये, किन्तु उन्होंने साले के हाथ स्त्री के लिए कुछ रुपये भेजे। साले ने उस रुपये को अपनी दुखिया बहन को देना पसन्द नहीं किया।

३, ४ वर्ष और बीते, इसी बीच पाठक दिल्ली दरबार भी हो आये। अभी उनका जीवन-स्रोत वैसा ही बह रहा था। बलजोर और त्यवन दो राजपूत नौजवानों से उनका सगे भाई से भी ज्यादा मुहब्बत थी। सच पूछिए तो अब उनके लिए जालना घर से कम न था। उनको घर की फिक्र हो तो क्यों? किन्तु एक दिन किसी ने पाठक से सूबेदार रम्मूसिंह की कथा सुनाई। वह कई वर्ष पूरे

पेन्शन पाकर घर चले गये थे। रम्मूसिंह ने जब से पलटन मे नोकरी की थी तब स एक ही दो बार कुछ समय के लिए घर गये थे या शायद नही ही गये थे। पेन्शन के बाद एक बक्स मे अशर्फियॉ भर कर वे घर पहुँचे। उनकी स्त्री अब बूढी हो चुकी थी। बूढे सूबेदार मेजर ने अशर्फियो का बक्स उनके सामने खोल दिया। ख्याल किया होगा, स्त्री बहुत प्रसन्न होगी, किन्तु प्रसन्नता का पता तो तब लगा जब सूबेदार मेजर ने पानी मागा और उत्तर मिला कि "इन्हा अशर्फियो से लो। तुमने तो जिन्दगी मे अशर्फियॉ ही पैदा की, पानी देले वाले थोड़े ही पैदा किय।" बेचारे सूबेदार पर क्या बीती होगी, इसका तो पता नहा, किन्तु पाठक पर इस बात का वडा असर हुआ। परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनो के बाद सबके कहते सुनते रहने पर भी नाम कटा कर वे घर के लिए रवाना हो गये।

❀ ❀ ❀

घर लोटने की सबसे अधिक प्रसन्नता पाठक की स्त्री को होनी ही चाहिए थी। यदि भाइयो के पास समय समय पर कुछ रुपया आया करता तो इसमे शक नही कि पाठक की स्त्री की इतनी उपेक्षा न होती। पठकाइन मे एक बडा गुण यह था कि वे झगड़ा पसन्द न थी, किन्तु इसका ही दुष्प्रभाव यह था कि दूसरो के प्रतिकूल व्यवहार को वे मन मे रखती जाती थी। कडवे मुह-वालो मे अक्सर देखा जाता है कि वे किसी के दुर्व्यवहार को फौरन मुँह से निकाल कर भीतर-बाहर दोनो ओर ठण्डे हो जाते हैं। बेचारी पठकाइन मे यह गुण या अवगुण था नही, वे बारह वर्ष तक की उपेक्षाये ताने सब कुछ दिल मे रखती गई थीं। पाठक के आने के बाद वह लेखा एक-एक कर खुलने लगा। परिणाम यह हुआ कि थोडे ही समय के बाद पाठक भाइयों से अलग हो गये।

अब उन्होंने अपने घर को कुछ अपनी रुचि का बनाना चाहा। पहले तो उन्होंने द्वार पर पक्का कुआँ बनवाया और रहने के लिए ईंटों का मकान। पाठक को यह पसन्द न था कि अपना गन्ना दूसरे के कोल्हू में पेरने ले जायें। इसलिए चुनार जाकर एक पत्थर का कोल्हू ले आये। कोल्हू को अपने द्वार पर ही गाडकर उन्होंने दो घर 'कुल्हाड' के लिए भी बनवा दिये। उनके पास अपना पैत्रिक खेत दो बीघे से ज्यादा न था। कुछ दिनों के बाद उनके एक समीपी कुटुम्बी ने तीनों भाइयों से कहा—मुझे रुपये की आवश्यकता है। तुम लोग मेरे हिस्से का इतना खेत ले लो। नहीं तो मैं दूसरे को बेच दूँगा। तीनों भाइयों ने मिलकर खेत लिखा तो लिया, किन्तु छोटा भाई दाम न दे सका। पाठक ने उस भूमि को भी ले लिया। इस प्रकार अब पाठक के पास पाँच बीघे (तीन एकड़ से कुछ अधिक) के करीब जमीन हो गई। घर में दो प्राणी थे। एक लडका हुआ, किन्तु कुछ ही समय के बाद मर गया। १८७६ ईसवी के करीब पाठक को एक लडकी पैदा हुई। यही उनकी अंतिम और एकमात्र जीवित सन्तान थी। घर में उसका लडके के ही समान लाड़-प्यार था और होना ही चाहिये था। ९-१० वर्ष की होने पर, लडकी का व्याह १० मील पर एक दूसरे गाँव में कर दिया गया। लडकी अधिकतर मायके ही में रहती थी, ससुराल जाने पर हर हफ्ते माँ का आदमी कुछ लेकर पहुँचा रहता था। १८९३ ईसवी में लडकी को एक पुत्र हुआ। नाती के जन्म से पाठक-पठकाइन दोनों को अपार आनन्द हुआ। नाती जब अपनी माँ से अलग रहने लायक हो गया तब वह नाना का हो गया। अब बेटी की ममता भी नाती पर चली आई, इससे अब उसे ससुराल में अधिक रहने की इजाजत हो गई।

पाठक के बड़े भाई के पाँच बेटे थे और छोटे के दो। उस थोड़ी-सी भूमि से बड़े भाई के इतने बड़े परिवार का गुजर होना बहुत कठिन था। वे देखते थे कि जो जायदाद उनको मिलती उसके लिए नाती तैयार किया जा रहा है। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनो परिवारो मे अनबन रहने लगी। दिल मे जलन तो थी ही, जरा-सा भी मौका मिलते आग भड़क उठती, दो-चार गाली-गलौज होती और फिर तीन-चार मारो के लिये दोनो ओर के गाल फूल आते।

पाठक अपने हाथ से काम करना अच्छा न समझते थे। पलटन के तिलङ्गा जो रह चुके थे। घर मे दूध देनेवाली एक भैंस वे जरूर रक्खा करते थे। बहुत पशुओं के शौकीन न थे, सिर्फ दो बैल और एक भैंस रखते थे। दूध और छाछ के बिना उनका काम न चल सकता था। पहले मछली-मास की भी खूब चाट थी, किंतु पीछे खानदानी गुरु और अपनी स्त्री के बार बार कहने पर मजबूर हो बेचारे एक सौ ग्यारह नम्बरवाले धर्म के चेले हो गये। एक काठ की कण्ठी गले मे डाल दी गई और पाठक को अपने प्रिय भोज्य से वञ्चित हो जाना पड़ा। तो भी जब उनका नाती कुछ खाने-पीने लगा तब वे कण्ठी और वैष्णवता के रहते भी नाती के लिए कही मछली मिल जाती तो लाये बिना नही रहते थे। जीती मछलियो को तो चार-चार पाँच-पाँच सेर लेकर वे एक नाद मे पाल लेते थे, जिन्हे नाती निकाल-निकाल कर भूनता तलता था। नाना नानी ढङ्ग बतलाने और हल्दी मसाला पीसकर दे देने मे कोई हिचकिचाहट नहीं करते थे।

पाठक की थोड़ी भूमि उनकी परिमित आवश्यकता के लिए काफी थी। खेत से अनाज और भैंस से दूध-घी उन्हे मिल जाया करता था। घर का काम काज बहुत कम था। बाहर का काम

उनका हलवाहा या दूसरा कर देता था और घर का उनकी स्त्री। बस, पाठक को खाना, सोना और सबसे बडा काम गप्पे मारना था। उस समय प गाँव के किसी बाग, कुल्हाड या खलिहान मे यदि आप पाच सात आदमियो के बीच एक मोटे ताजे अधेड पुरुष को देखते जो कि पैर और कमर को अँगोछे म बाँध कर कुर्सी बनाये बैठे बात करता होता, तो समझ जाइये वह पाठक महोदय होते। यद्यपि उन्होंने बारह तेरह वर्षों मे बहुत से देश और लोग देखे थे, तो भी जब उन्हीं बातो को और उतने ही आदमियो मे रोज दो तीन घण्टा कहा जाय तो वे कितने दिना तक नई रह सकती थी? फलत बाज श्रोता पाठक के बात आरभ करते ही कह देते—हाँ, यह हिंगोली छावनी के पहलवान की कथा होगी। तो भी पाठक ऐसे जीव न थे कि श्रोता की अनिच्छा के कारण अपनी कथा छोड बैठते।

प गाँव मे सरस्वती का सत्कार न था। पाठक का छोटा भतीजा प्राइमरी तक पढे था, फिर उनका नाती ही पहला आदमी था, जिसने मिडिल पास किया। पाठक स्वय अनपढ रहते हुए भी विद्या के लाभ को जानते थे, इसी लिए अभी नाती जब पाँच ही वर्ष का था तभी पास के स्कूल मे पढने के लिए बैठा दिया। वे कहा करते थे—और नही तो बैठना तो सीखेगा। पाठक के फुफेरे भाई सदर-आला होकर मरे थे, वही ख्याल करके अपनी स्त्री से वे कहा करते थे—जरा मिडिल पास हो जाने दो, फिर मैने जहाँ एक दिन जाकर पादरी साहब के यहाँ जङ्गी सलामी दागी कि बच्चे को अँगरेजी स्कूल मे भर्ती कराकर ही छोड़ूँगा। पाठक को और भी बडे-बड़े मनसूबे बाँधने की उत्तेजना इस बात से सबसे अधिक मिलती थी

कि उनका नाती पाठशाला में अपने दर्जे में बराबर अव्वल रहा करता था।

* * *

पाठक ने नाती को अपने सुख के लिए ही इतने लाड-प्यार से पाला था, किन्तु इसी प्रेम ने उनके जीवन की सध्या को दु खान्धकारपूर्ण बना दिया। वस्तुत यदि पाठक को अपने मन से करने दिया गया होता तो वे अपने भतीजों को दुश्मन न बनाते। उनका अपने भाइयों के प्रति हमेशा स्नेहपूर्ण बर्ताव रहता था। हाँ, जिस वक्त वायु मडल बिलकुल कडवा हो जाया करता था, उस वक्त भी पाठक के हृदय में सतह से जरा नीचे जाने पर भाइयों का स्नेह वैसा ही तर पाया जाता। ऐसे मौके आये, जिस वक्त ये तीनों वृद्ध भाई झगडे के तूफान के बीच भी स्वच्छन्दता-पूर्वक मिलने पर 'भैया' 'भैया !' कह कर फूट-फूट कर रोने लगते। तो क्या पाठक की स्त्री को दोष दिया जा सकता है ? उनका स्वभाव भी बहुत मधुर था। आदमी जन, हित-पाहुना ही नहीं, रात के टिकनेवाले भिखमंगे भी उनकी तारीफ किया करते थे। अतिथियों को खिलाने-पिलाने में उनको बडा आनन्द आता था। मधुर-भाषिणी तो इतनी कि सिवा अपनी जेठानी के (जिसका कारण और ही था) उन्होंने किसी को कभी कडे शब्द न कहे होंगे। दया का उदाहरण लीजिए। वैसे पाठक के घर से कुत्ते-बिल्लियों का बिलकुल सम्बन्ध न था, किन्तु एक बार एक कुतिया ने आकर बाहर के घर के कोने में बच्चे जन दिये। फिर क्या था ? पठकाइन ने समझा—इस प्रसूता की परिचर्या का सारा भार उन्हीं पर है। कुतिया के लिए प्रसूता की तरह खाना मिलने लगा। इस दया का फल तुरन्त ही यह हुआ कि कुतिया द्वार की मालकिन बन गई और उसने एक बुढिया भिखमगिन को काट खाया। एक

प्रकार से कहा जा सकता है—अपने घर के दो ज्यादो के सिवा वे अजातशत्रु थीं।

तो क्या उनकी जेठानी और देवरानी कसूरवार थीं? देवरानी और पाठक के घर का विरोध तो हमेशा क्षीण रहा (न उन्हे कुछ आशा थी, न कुछ मिला)। हा, जेठानी उन सासो मे थी जो कडाई के बिना अपनी बहुओ को शासन मे रख सकती थीं। उनमें बहुत गभीरता थी। अनपढ, अल्प-वित्त, बहुसन्तान और ग्रामीण होते हुए भी उनमे व्यवस्था और परख करने का गुण था। वे उदारमना थी, जो गुण उनकी परिस्थिति की स्त्रिया मे बहुत कम पाया जाता है। उनके पति—पाठक के बडे भाई तो पूरे धृतराष्ट्र थे। लड़कों के मारे भाई का विरोध करते भी असमञ्जस मे ही पडे रहते थे। पाच लडके थे। इतने परिवार का उतनी थोड़ी भूमि मे निर्वाह होना मुश्किल था। इसलिए होश सॅभालते ही दो तो कलकत्ता जाकर पुलिस मे भर्ती हो गये। जब वे दो-चार वर्ष मे छुट्टी में घर आते तब चाहे चचा (पाठक) और अपने घर से बोल चाल न भी हो, भेट की चीज लेकर पहले वे चचा के पास ही पहुँचते थे। भेंट सामने रखकर चरण छूकर चाचा-चाची को प्रणाम करते थे। एक बार एक पुलिसमैन भतीजा उस वक्त घर आया, जिस वक्त रूस जापान की लडाई हो रही थी। आकर उसने घटो पनडुब्बी नावो की बाते और दूसरी खबरें—जिन्हे कि वह कलकत्ता में सुना करता था—का वर्णन करता रहा। सबसे छोटा भतीजा असाधारण व्यवहारकुशल तथा प्रतिभाशाली था। यदि उसे शिक्षा का अच्छा अवसर मिला होता तो वह एक विशेष आदमी हुआ होता। पाठक के नाती या अपने भाजे के साथ उसका प्रेम था। उसी ने ले जाकर उसे अक्षरारंभ करवाया था। घर पर रहते वक्त वह भाजे को कुछ काम की बाते

बतलाकर उत्साहित करता रहता था। अपर प्राइमरी तक पढ़कर उसे चिट्ठीरसा की नौकरी कर लेनी पड़ी थी, इसलिए जिले में ही किन्तु बराबर बाहर रहना पड़ता था। बाकी दो भतीजे अपनी स्वतन्त्र बुद्धि न रखते थे। वस्तुतः यदि वह थोड़ी-सी जमीन—जो सारी कड़वाहट की जड़ थी—का ख्याल हटा दिया जाय तो भतीजे बुरे ही न थे, बल्कि बहुत अच्छे थे। भतीजों की बहुएँ ? एक पाठक के साले की लड़की थी। दूसरी उनके ही कथनानुसार गौ थी। सबसे छोटी बहू की तो वे प्रशंसा करते न थकते थे। और बाकी दो बेचारी घर के भीतर चुपचाप रहनेवाली थी, उन्हें झगड़े-झंझट से कोई वास्ता नहीं था।

और नाती ? वह तो लड़का था। वह सभी चीजें अपने शिशु-नेत्रों से देखता था। तो भी यदि उसके उस बाल-अनुभव—चौदह वर्ष की अवस्था के पूर्व के अनुभव—की कीमत है तो उसे सभी मामियाँ बड़ी ही मधुर मालूम होती थी। छोटी मामी से उसे असाधारण प्रेम था। स्कूल से लौटते ही, जहाँ नानी ने कुछ खाना दिया नहीं कि वह छोटी मामी के दरबार में हाजिर हुआ। इस मामी में असाधारण कोमलता थी। वह सुन्दर थी, स्वच्छ थी, शीघ्र बात समझने वाली थी, और अपने भांजे को खुश करने वाली मीठी बातें करना जानती थी। आने पर खाने को पूछना, पानी के लिए पूछना, फिर दिल खोलकर बातें करना—एक बालक के लिए और चाहिए ही क्या ? सचमुच यदि उस लड़के को पूछा जाता कि तुमको सिर्फ एक आदमी दुनिया में मिलेगा, चुन लो और हमेशा के लिए निर्जन वन में चले जाओ तो वह अपनी इसी छोटी मामी को ही चुनता। उसका बालक-हृदय टूक-टूक हो गया, जब एक बार दोनों घरों की बोलचाल बन्द होने पर भी वह छोटी मामी के पास गया, और आते ही बड़े ही रूखे शब्दों में उसे कहा

गया—तुमने वहू को गाली दी है, खबरदार! अब इधर मत आना। मामी का भी इससे कम दुःख न हुआ होगा, क्योंकि उसे भी अपने भानजे को शाम सवेरे देखे बिना चैन न आता था। बालक को क्या मालूम था कि यह दुनिया प्रेम और सद्भाव का स्रोत बहाने के लिए नहीं है। कुछ ही वर्ष बाद वह प्यारी मामी मर गई।

व्यक्तियों में अलग-अलग ढूँढ़ने में तो किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था, किन्तु समुदाय में भयङ्कर कड़वाहट पैदा हो जाती थी। इसका कोई सबब जरूर था।

❀ ❀ ❀

१९०५ ईसवी में पाठक की लड़की मर गई। अब पाठक के चार नाती थे। बाकी तीन छोटे अपने घर पर रहा करते थे। पठकाइन ने जोर दिया—नातियों के नाम लिखा-पढ़ी कर देनी चाहिए, जिन्दगी का ठिकाना क्या है। १९०६ में पाठक ने अपनी जायदाद को नातियों के नाम लिख दिया।

अब तो युद्ध की घोषणा हो गई। किन्तु बेचारी पठकाइन उस युद्ध के प्रचण्ड होने से पूर्व ही प्लेग में इस दुनिया को छोड़ चल बसीं। नाती अब गाँव से कुछ दूर एक मिडिल स्कूल में पढ़ता था, जहाँ से छठे-छमाहे ही आता था और जब झगड़ा जोर पकड़ चुका तब तो आता भी न था। लड़नेवाले थे, एक ओर पाठक के भतीजे और दूसरी ओर पाठक और उनका दामाद। अनुकूल प्रतिकूल आदमी सभी जगह मिल जाते हैं। वही यहाँ भी हुआ। भतीजा ने पहले तो हिब्बे को नाजायज करार दिलाने के लिए दीवानी में मुकद्दमा दायर किया, किन्तु वे जानते थे, कानून उनके विरुद्ध है। फिर उन्होंने फौजदारी मुकद्दमे और मारपीट शुरू कर दी। फौजदारी में तो जो पुलिस को खूब रुपया दे, झूठे-सच्चे

गवाह है, उसकी जीत होगी। दोनो ओर से रुपया खर्च होने लगा। साल भर तक यह घमासान युद्ध होता रहा जितनी की जायदाद नहीं थी, उतनी हानि और खर्च पाठक के दामाद को उठाना पड़ा। भतीजो को भी उससे कम खर्च नहीं करना पड़ा। दोनो को कुछ होश आने लगा। दामाद साहब भी समझने लगे, दूसरे गाँव मे आकर यह सब करने मे हम नुक्सान मे रहेंगे। उनके अपने घर का लेन देन, खेतीबारी का काम बिगड़ रहा था। अन्त मे पंच के द्वारा सुलह हुई। पंच ने नाती को ग्यारह या बारह सौ रुपये दिलवाये।

भतीजे अब भी पाठक को रहने के लिए कहते थे। किन्तु पाठक समझते थे कि किसी समय उन्हें ताना मारा जा सकता है। यद्यपि वे अपने सबसे छोटे भतीजे की बहू को देवता मानते थे, (यह छोटी मामी के मरने के बाद दूसरी शादी थी)। साथ ही पाठक को इससे भी कम ग्लानि न थी कि जिस लड़की के गाँव तक मे धर्म भीरु लोग पानी पीना नहीं चाहते, वहीं उन्हें अपनी जिंदगी का अन्तिम समय अपरिचित मुखड़ों के बीच बिताना पड़ेगा। साँप-छछूँदर की दशा थी। यदि पाठक ने पहले इस परिणाम को जाना होता तो अपने भतीजों को वे विरोधी न बनाते। एक दिन पाठक इच्छा से या अनिच्छा से दामाद के गाँव में चले गये, साथ ही जवानी के लाये उस पत्थर के कोल्हू को भी लेते गये।

यद्यपि जहाँ तक दामाद और सम्बन्धियो का सम्बन्ध था, उनका बर्ताव अच्छा था, तो भी पाठक को वह स्थान अनुकूल, अपरिचित सा जान पड़ता था। अब भी वे अपने शिकार की, अपनी यात्राओं की बातें सुनाते थे, और सुननेवाले भी होते थे, किन्तु उन्हें कहने मे वह रस न आता था। अब उनका अपना

नाम चला गया था, और उसकी जगह वह अमुक के ससुर कहे जाते थे। पाठक का अपना मकान एक छोटे गाँव मे था, किन्तु वहाँ मील भर पर अच्छा बाजार था, और फेरीवाली खटकिनें, कोइरने भी साग-भाजी लेकर आ जाया करती थी। अब उस झारखण्ड के गाँव मे खाने-पीने की उन चीजो की सुविधा न थी। स्त्री-वियोग और पुत्री-वियोग ऊपर से चित्त को खिन्न किये रहता था। अब एक और घटना हुई, जिसने उनके जीवन को बिलकुल ही नीरस बना दिया। पहले तो नाना की विचित्र यात्राओ के बात से प्रभावित नाती एक वर्ष घुमक्कडपन मे गँवा आया। फिर मिडिल पास करने पर उस पर दूसरा ख्याल सवार हुआ। कहने लगा—अँगरेजी म्लेच्छ-भाषा है, मै तो सस्कृत पढूँगा। उसी मे स्वर्ग-मोक्ष का मार्ग रक्खा है। घरवाला के जिद करने पर एक दिन वह चुपके से निकल भागा। पाठक के लिए यह असह्य बात थी। उनका सारा प्रेम उसी नाती म केन्द्रित था। जब उन्हे पता लगा कि नाती बद्रीनारायण की ओर गया है तब वे भी उधर चल पडे, किंतु उससे भेट न हुई। पीछे नाती को बनारस मे रहकर सस्कृत पढने की अनुमति दी गई। कुछ वर्षा तक वह बनारस मे सस्कृत पढता रहा, किन्तु इसी बीच १६१२ ईसवी मे पाठक ने सुना कि नाती साधु होकर कही चला गया।

पाठक अब जीवन की अतिम सीमा पर पहुँच चुके थे। उनका शरीर और हड्डियाँ जितनी दृढ थीं और जैसे वे नीरोग रहते आए थे, उससे अभी वे और जी सकते थे किन्तु अब उन्हें जीने की चाह नहीं रह गई थी। १६१३ मे वे बीमार पड़े, जान गये अब चलना है। उस वक्त उनकी एक यही इच्छा थी कि अतिम समय नाती को देख लें। किंतु नाती उस समय डेढ हजार मील की दूरी पर

बैठा था। वह जानता भी न था और यदि सुन भी पाता तो कौन जानता है वह अपने वृद्ध नाना की आत्मशांति के लिए उनके पास आना पसंद करता। पाठक एक दिन चल बसे और उस क्रूर प्रथा को याद करते हुए जिसके द्वारा भाइयों को वञ्चित कर दूर गाँव के सम्बन्धियों को अपनी सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनाया जा सकता है।

४

पुजारी

(धूलि का हीरा)

पुजारी यह उनका निजी नाम न था, किन्तु गाँववाले जवानी से ही उन्हे इस नाम से पुकारते थे।

पुजारी का जन्म १८७४ ईसवी मे ठेठ देहात के एक बहुत ही छोटे गाँव मे हुआ था। उनके गाँव से कोस-कोस भर तक कोई कच्ची पक्की सडक न थी, डाकखाना आठ मील दूर था और बाजार भी उतनी ही दूर। यही हाल पाठशाला या मदरसा का था।

पुजारी अपने पिता की ज्येष्ठ सन्तान थे। उनके पिता की अपने गाँव मे ही प्रतिष्ठा न थी, बल्कि आस-पास के कितने ही गाँवो मे उनके बिना पचायत न होती थी। ईमानदारी और विशालहृदयता उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। पुजारी के पिता एक बडे परिवार के प्रधान थे। यद्यपि वे अपने पिता के एकमात्र पुत्र थे, तो भी अपने चचेरे तीन भाइयो के साथ उनके सगे भाई से भी अधिक प्रेम था। सबसे छोटे को तो उन्होने दूर के गाँव में सस्कृत पढने के लिए भी भेजा था। यद्यपि उनकी पढाई 'सत्य-नारायण' और 'शीघ्रबोध' से आगे नहीं बढी, तो भी उन्हे गाँव मे पडित कहा जाता था, और वह थे भी उस गाँव के लिए वैसे ही।

पुजारी के पिता का देहान्त ४५-४६ वर्ष की ही उम्र में हो गया। उस वक्त पुजारी १५ वर्ष के हो पाये थे। उनसे छोटा एक भाई और तीन बहनें थीं, जिनमें सबसे छोटी ६-७ वर्ष से अधिक की न थी। पिता ने रवाज के मुताबिक, बड़े लड़के और बड़ी लड़की की शादी, १०-१२ वर्ष की ही अवस्था में कर दी थी। पिता के मरने के समय तीनों चचेरे चचा एक ही घर में रहते थे। तीनों ही भलेमानस थे और अपने भाई के प्रेमपूर्ण बर्ताव के चिरकृतज्ञ थे। यदि उनकी चलती तो वह पुजारी को बाप के मरने का ख्याल भी न आने देते, किन्तु पुजारी की मा दूसरी धातु की बनी थी। मीठी बोली तो मानो वह जानती ही न थी। जरा-सी बात में चार सुना देना उनकी आदत में थी। पति के जीते समय तो जबान पर भारी अंकुश था, किंतु पीछे कोई रोकनेवाला न था। उनका हृदय बहुत संकीर्ण था। वह कहा करती—खेत और धन में हमारा आधा हिस्सा होता है, देवर और उनके लड़के-वाले कैसे हमारे धन को खायँगे? जरा-सी बात में वह ताना दे डालती थीं। उनके देवर और देवरानियाँ पहले बहुत लिहाज किया करती रहीं, किंतु आय दिन की किचकिच से उनका नाकोंदम हो गया और तीन वर्ष बीतते न बीतते उन्हें अलग हो जाना पड़ा।

❀ ❀ ❀

पुजारी की माँ अब बहुत प्रसन्न थी। उन्होंने घर में ही नहीं, हर खेत में आधा-आधा करवाया था। खेत उनके पास काफी थे। काम करने के लिए कुछ चमार और भर घर भी मिले थे। किन्तु पुजारी को खुशी कहाँ से हो सकती थी? माँ के झगड़ालू स्वभाव के कारण १५ वर्ष की ही उम्र में परिवार का सारा बोझ उनके कंधे पर आ पड़ा था। कहाँ खाने-खेलने का समय और कहाँ यह जिम्मेवारी! उन्हें खेती-बारी और परिवार को ही सँभा-

लना न था, बल्कि छोटे भाई और दो बहनों की शादी भी करनी थी। भाई बन्धु इच्छा रहते भी सहायता न कर सकते थे, क्योंकि पुजारी की माँ के स्वभाव से वे परिचित थे। कहावत थी, पुजारी की माँ के मारे कुत्ते भी दरवाजे पर नहीं फटक सकते।

गाँव के आस-पास पढ़ने का कहीं इंतजाम न था, यह कह आये हैं। किंतु पिता के जीते समय, जब पुजारी तेरह-चौदह वर्ष के थे, तभी कहाँ से भूलते भटकते एक मुंशी जी उस झारखंड के गाँव में पहुँच गये। यद्यपि पीढ़ियों से उस गाँव के ब्राह्मणों ने विद्या से नाता तोड़ रक्खा था, तो भी अभी कुछ श्रद्धा बाकी थी, और मुंशी जी के पास आधे दर्जन से ऊपर लड़कों ने पढ़ाई शुरू कर दी। दो-ढाई सप्ताह के भीतर ही अधिकांश घर बैठ गये। डेढ़ महीने में मुंशी जी भी समझ गये—"धोबी बसि के का करे, दीगम्बर के गाँव।" मुंशी जी के चेलों में पुजारी ही थे, जो अंत तक डटे रहे। कोन्दो देकर पढ़ने की कहावत बहुत मशहूर है। पुजारी ने कोन्दो तो नहीं दिया, किंतु कहते हैं, दक्षिणा में मुंशी जी को कुछ धान ही मिला था।

इस प्रकार अठारह वर्ष की उम्र, डेढ़ महीने की पढ़ाई और नीम से भी कड़वी जबानवाली माँ—इन तीन साधनों के साथ पुजारी गृहस्थी सँभालने के काम में लगाये गये।

❀ ❀ ❀

पुजारी असाधारण मेधावी थे। बत्तीस वर्ष की उम्र में उनका जो ज्ञान था, उसे देखकर कोई नहीं कह सकता था कि उनकी पढ़ाई सिर्फ डेढ़ महीने की है। उनमें ज्ञान की बड़ी प्यास थी। अथवा ज्ञान कौन-कोम है, यह भी तो उन्हें मालूम नहीं था, फिर प्यास कहाँ से आती? हाँ, काम में जिस ज्ञान की जब-जब आवश्यकता होती, वह उसके पीछे पड़ जाते, और न जाने कहाँ और

किसके पास से सीखकर ही छोड़ते। उन्हें जोड़, बाकी, गुणा, भाग ही नहीं मालूम था, बल्कि भिन्न, त्रैराशिक और पंचराशिक भी लगा लेते थे। एक समय गाँव में सरकारी पैमाइश शुरू हुई। उस समय उन्होंने अमीनों और पटवारियों के पास बैठकर पैमाइश का हिसाब भी सीख लिया।

पुजारी की धर्म में बड़ी श्रद्धा थी, इसी से अठारह वर्ष की उम्र में ही वह पुजारी कहे जाने लगे। वह बिना स्नान-पूजा के पानी भी नहीं पीते थे। उनके पाठ में यद्यपि पहले हनुमान-चालीसा था, किन्तु धीरे-धीरे हनुमान-बाहुक, विनय-पत्रिका और रामायण भी शामिल हो गये। रामायण के उन्होंने बहुत पाठ किये थे, और उसके ज्ञानदीपक जैसे स्थलों का उनका किया अर्थ बहुत बुरा न होता था। हर एक धर्मभीरु ब्राह्मण को अच्छी-बुरी साइत का ज्ञान रखना जरूरी ठहरा। पुजारी के सारे गाँव के ब्राह्मणों के लिए कुल मिलाकर सिर्फ एक घर यजमान था। यदि यजमानी बड़ी होती, तो शायद पुजारी का कुछ और पढ़ने का अवसर मिला होता। जब उनकी स्त्री बीमार पड़ी, उस समय उन्होंने 'रसराज-महोदधि' भी मँगा लिया, और यदि लोग कच्चे औषध की भयंकरता का डर न दिखलाते तो शायद वह अपने बनाये मकूर से ही पत्नी की चिकित्सा करते। उस समय अखबार अभी गाँवों तक नहीं पहुँचे थे, तो भी जिन पुस्तकों का गाँवों में प्रवेश था, पुजारी उन्हें पढ़-समझ सकते थे।

एक ओर पुजारी कट्टर पुजारी थे, दूसरी ओर नई बातों के सीखने के लिए उनका दिमाग बिलकुल खुला था। पुजारी की बस्ती के भीतर सिर्फ एक कुआँ था, जिसके लम्बे-चौड़े आकार और टूटी फूटी हालत को देखकर लोग उसे सतयुग के आस-पास का बना कहते थे। उसकी ईंटें एक ओर से पहले ही गिर चुकी

थी। एक दिन वह सारा ही कुआँ बैठ गया। अब लोगों को दूर के कुएँ से पानी भरकर लाना पड़ता था। पुजारी उस समय ३०-३१ वर्ष के हो चुके थे उनके पास धन भी था। उन्होंने अपने द्वार पर एक कुआँ बनवाना चाहा। उन्होंने अपने दिल में कुएँ का नक्शा खींचा—कुआ ऐसा हो, जिसकी दीवार से घड़ा न टकराये। यदि नीचे की अपेक्षा कुएँ का ऊपरी भाग संकीर्ण कर दिया जाय, तो यह हो सकता था। ईंटों के भी प्रचलित आकार को छोड़कर उन्होंने अपने मन के आकार की ईंटों का साँचा बनवाया। उनमें कुछ तो डेढ़ फुट लम्बी और ६ ७ इंच चौड़ी थीं। अपने गाँव की 'बड़ी पोखर' की प्राचीन ईंटों को देखकर शायद उनको इतनी लम्बी ईंटों के बनवाने का साहस हुआ। उस काल की ही भाँति यदि ईंधन की इफरात होती और ईंधन ठीक तरह लगाया जाता, तो कदाचित् वे पक जातीं। किन्तु पुजारी का ध्यान इधर न गया, और ईंटें बहुत सी अधपकी रहकर टूट गईं। तो भी उनके काम भर के लिए ईंटें तैयार मिल सकीं। पुजारी के बुलाने पर उनके ससुर कुआँ बँधवाने के लिए राज लियाकर आये। ईंटों के विचित्र आकार को ही देखकर ससुर और राज दोनों का माथा ठनका। उस पर पुजारी ने कुआँ बाँधने की अपनी योजना पेश की। राज चिल्ला उठा—अरे! यह क्या कह रहे हो? यदि कुएँ का मुँह सिकोड़ दिया जायगा तो ईंटें कुछ ही दिनों में आगे की ओर गिर जायँगी पुजारी ने कहा—और मेहराब में ऐसा क्यों नहीं होता?

खैर, पुजारी के आग्रह को देखकर राज ने उसी प्रकार कुएँ को बाँधना शुरू किया। कुछ दूर बाँधने और मिट्टी निकालने पर कुआँ भीतर से बहुत बालू फेंकने लगा। राज ने सारा दोष कुएँ की नई चिनाई के मत्थे मढ़ा और फिर से उधेड़कर पुरानी चाल से बाँधने के लिए कहा। किन्तु पुजारी कब माननेवाले थे। जब कुआँ सही-

सलामत बनकर तैयार हो गया, तब ससुर जी कहने लगे—तैयार तो हो गया, किन्तु इसकी शक्ल तो कुइयाँ-सी है। पुराने ढग से बनवाने पर यह एक अच्छा खासा कुआ मालूम होता।

❀ ❀ ❀

पुजारी ने छोटे भाई को अपने बहनोई महादेव पडित के घर पढने के लिए भेजा था, किन्तु उसने इतना ही पढा—'ओनामा-सिवम्। बाप पढे न हम्'। दो-चार बार भाग आने पर पुजारी ने ओर जोर देना छोड दिया। दोनों बहनो ओर भाई की भी शादी कर दी। अब दोनो भाई मिलकर खब मेहनत करते थे। घर के प्रबन्ध मे माँ बहुत दक्ष थी। हर साल ही खर्च करने के बाद कुछ पैसा और अनाज बचने लगा। पुजारी ने उसे सूद ओर सवाई पर देना शुरू किया। सूद और मूल मे गाव के कुछ लोगो के खेत भी अपने पास रेहन आये। यद्यपि गाव मे ट्रीनीडाड से लौटे एक दूसरे आदमी के पास सबसे अधिक खेत थे, किन्तु अगहन बीतते-बीतते उनका घर अनाज से खाली हो जाता था, और उधार और खरीद की नौबत आती थी, इसीलिए पुजारी गाँव में सबसे अधिक धनी समझे जाते थे।

पुजारी का जीवन अब सुख का जीवन था। यद्यपि फाटके के रोजगारियो और सौदागरो की भाँति तो नहीं, फिर भी पुजारी का धन प्रति वर्ष बढ रहा था। उन्हे अभी तक कचहरियो से वास्ता न पडा था, किन्तु इसी समय पुजारी के गाँव मे पैमाइश होने लगी। अभी तक खेत, बाग, परती सभी का हिसाब पटवारी के यहाँ रहता था, किन्तु अमीनो ने पैमाइश के साथ दखल-कब्जा पूछना शुरू किया। यही तो कमाने का समय होता है। यदि इधर की उधर और उधर की इधर न करे, तो साफ कोई अमीन को पूछेगा। हाँ, यह ऐसा भी समय है, जब पहले की पैमाइश की

बेईमानिया भी प्रकट होने लगती है। हम कह चुके हैं, पुजारी बडे मेधावी पुरुष थे। गाँव मे आये हुए अमीन के पास जाकर वह कागज-पत्र देखने लगे। उन्हे मालूम हुआ कि पहले के कितने ही उनके खेत औरों के कब्जे मे है। कुछ मे इधर नये सिरे से गोल-माल हुआ है। पुजारी उन आदमियो मे से थे, जिनका सिद्धान्त होता है—न अपना एक पैसा जाने देना और न दूसरो का एक पैसा लेना। अब पुजारी के लिए बन्दोबस्त के डिप्टी के पडावो और जिला तथा तहसील की कचहरियो पर धरना देना जरूरी हो गया। जिस पूजा के नियम के कारण उनका नाम पुजारी पड़ा था वह छूटे कहाँ से ? उसमे तो कुछ वृद्धि भी हुई थी। यदि पहले एकादशी का ही व्रत होता था, तो अब महीने के चार अलोने एतवार भी शामिल कर लिये गये थे। कचहरी के काम तो घर की तरह अपने वश का नहीं, और बिना पूजा-स्नान के पुजारी पानी भी नहीं पी सकते थे। फलत कभी कभी सूर्यास्त और पुजारी की स्नान-पूजा साथ साथ होती थी। उन्होने गगातट या काशी मे बाल बनवाने का नियम कर लिया था, इसलिए उनके दाढी-बाल दो-दो चार-चार महीनो तक बढ़ जाने पाते थे।

पुजारी यद्यपि धार्मिक और श्रद्धालु आस्तिक थे, तो भी उनकी श्रद्धा अधश्रद्धा न थी। यही कारण था, जहाँ गाँव के लोग सभी लम्बी दाढी भारी जटा, छोटी लगोटी और सफेद भभूत को साष्टाँग दडवत करना अपना धर्म समझते थे, वहाँ पुजारी बिना गुण की परख पाये ऐसे साधुओं की आव-भगत से दूर रहते थे। वहाँ उनके गाव से कुछ दूर निर्जन स्थान मे एक वृद्ध परमहस रहा करते थे, जिनकी आयु के बारे में बूढे बूढे लोग भी कसम खाने के लिए तैयार थे कि उन्होंने जब से होश सँभाला तब से परमहस बाबा को ऐसा ही देखा। यह भी कहा जाता था कि परमहँस बाबा

अपनी जन्मभूमि (पोखरा) नेपाल से विद्या पढ़ने के लिए बनारस आये थे, वहीं पीछे विरक्त हो राजघाट के पास एक कुटिया में रहते थे। जब राजघाट में रेल आई और उसकी गड़गड़ाहट से उनके ध्यान में विघ्न पड़ने लगा, तब मुफ्त में मुक्ति देने वाली काशी को छोड़कर अपने एक भक्त के साथ पुजारी के आस पास वाले प्रदेश में चले आये। पुजारी परमहंस जी के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते थे। हर चौथ-पाँचवें दिन वह दर्शनार्थ वहाँ पहुँचते थे।

पुजारी के सुखमय जीवन की दिशा का अन्त हो रहा था। इतने समय में उनकी आर्थिक अवस्था ही अच्छी नहीं हो गई थी, बल्कि उनके एक कन्या और चार पुत्र भी हो चुके थे। पिता की मृत्यु के बाद घर में किसी की मृत्यु से उन्हें अपनी आँख भिगोनी नहीं पड़ी थी। एक तरह वह भूल ही गये थे, कि संसार में मृत्यु भी कोई चीज है। इसी समय पुजारी की धर्मपत्नी बीमार पड़ी। पुजारी के उस झारखण्ड के गाँव में वैद्य पहुँचते ही कहाँ थे। ओझा-सयाने ही सुलभ थे, किन्तु पुजारी उन्हें फूटी आँख से भी देखना नहीं चाहते थे। उनकी माँ ने एक आध बार चुपके से जाकर अपने देवर ओझा से पूछा और सहृदय ओझा ने बतलाया कि सारा फिसाद घर के पास बाँस वाली चुड़ैल का है, किन्तु पुजारी के मारे उनकी शान्ति पूजा हो तब तो! पुजारी इस समय स्वयं "रसराजमहोदधि" के पन्ने उलट रहे थे। उन्हें यह मालूम हो गया कि स्त्री को पाण्डु रोग है। कुछ अपनी और कुछ दूसरे यमराज सहोदर वैद्यों की दवा भी की, और भी जो उपचार बन पड़ा, किया, किन्तु, कुछ महीनों की बीमारी के बाद स्त्री चल बसी। बाहर प्रकट न करने पर भी पुजारी को बड़ा दुःख हुआ।

इस समय पुजारी पूरे तीस वर्ष के भी न हो पाये थे। खाते-

पीते व्यक्ति का व्याह करने के लिए सभी लोग तैयार रहते हैं। स्त्री की बर्षी भी न हो पाई थी, कि ब्याह करने वाले मँडराने लगे। लेकिन पुजारी ने साफ कह दिया—मेरे पाँच बच्चे हैं। व्याह का फल मुझे मिल गया। अब मुझे शादी नहीं करनी है।

पुजारी के इस दुःख को कम करने में सहायक कुछ और भी बात थीं। सबसे पहले तो उनके अपने मन की दृढ़ता थी। बच्चों का प्रेम भी मददगार था। उनका भाई बहुत ही आज्ञाकारी था—इतना आज्ञाकारी कि कभी कभी इसके लिए उसे अपनी स्त्री का ताना सुनना पड़ता था। पुत्रों के सयाने होने पर पुजारी को और अच्छे दिनों की आशा थी।

पुजारी के धार्मिक विचारों में उदारता क्या थी।

एक समय की बात है। पुजारी उस समय २०-२१ वर्ष से अधिक के न रहे होंगे। वह एक जगह चुपचाप उदास बैठे थे। साधारण उदास नहीं, बहुत ही उदास। कारण यह था। पुजारी के पूर्वज कुछ पीढ़ी पहले सरयूपार से आकर इधर बस गये थे। अब भी लोग कम से कम अपनी कन्याओं को सरयूपार (गोरखपुर जिले में) ही ब्याहना पसन्द करते थे। वह अपनी दोनों छोटी बहिनों के लिए वर ढूँढने सरयूपार गये। लोगों ने भुलावा देकर एक घर के दो लड़कों का तिलक चढ़वा दिया। घर आने पर पता लगा कि वरवाला घर किन्हीं कारणों से नीच समझा जाता है। उन्होंने तिलक लौटा देने की बात कही, जिस पर वरवाले तरह-तरह की धमकी देने लगे। पुजारी के भाई-बंधु भी उन्हें समझाने लगे। किंतु पुजारी कब अपनी बहनों को कुजात के घर ब्याहने लगे! बहुत जोर देने पर वह फूट-फूट कर रोने लगे, और बोले—मैं दोनों बहनों को गले से बाँधकर पानी में डूब मरूँगा, पर उस घर में शादी न करूँगा।

आखिर पुजारी ने वहाँ शादी नहीं की।

और जगहों की भाँति पुजारी के गाँव में भी गरीब व्यक्ति बिना ब्याहे ही बूढ़े हो जाते थे। गाँव का एक ब्राह्मण तीस वर्ष से ऊपर का हो गया था, और अब तक उसका ब्याह न हुआ था, न होने की आशा ही थी। दूसरे गाँव में उसकी रिश्तेदारी में एक तरुण-विधवा थी। दोनों का देवर भाभी का नाता था। नित्य की आवाजाही से दोनों में प्रेम ही नहीं हो गया, बल्कि छिपकर रखने की अपेक्षा वह अपनी भावज को घर पर लाकर रखने लगा। पहले तो मालूम हुआ, वह मेहमानी में आई है, किंतु पीछे बात प्रकट हो गई। पुजारी को यह बात असह्य मालूम हुई और वह बलपूर्वक उस विधवा को गाँव से निकालने के लिए गये। बड़ी मुश्किल से लोग उन्हें मनाकर लाये। कहते थे—गाँव में यह बहुत ही बुरा उदाहरण होगा, इसे देखकर यह रोग औरों में भी फैलेगा।

इस घटना से पुजारी की सामाजिक अनुदारता सिद्ध होगी, तो भी यदि पुजारी को दुनिया के बारे में और अधिक सुनने-जानने का मौका मिला होता वह अपने विचारों को जल्दी बदल भी देते, समझ में आ जाने पर वह किसी बात के लिये दुराग्रह नहीं करते थे।

पुजारी की तीन हर की खेती थी, जिनमें एक हलवाहा था चिनगी चमार। चिनगी किसी समय कलकत्ता में किसी साहब का साईस रह चुका था। उसके एक कलकतिया लड़का और तीन लड़कियाँ थीं। ब्याह हो जाने पर लड़कियाँ अपने घर चली गईं, और कुछ समय बाद चिनगी का एकलौता बेटा मर गया। पुत्रस्नेह बहुत बड़ी चीज होती है, किन्तु इन मजदूर जातियों के लिये बेटा तो बुढ़ापे का बीमा होता है। खुशी-नाराजी जैसे भी हो, उसे

अपने बूढ़े मा-बाप का बोझा उठाना ही पडता है। बूढे चिनगी के लिए पुजारी भारी अवलम्ब थे। वह उसके पुत्रशोक और भूरा को मिटाने का बहुत ध्यान रखते थे। इसके लिये पुजारी की माँ कभी-कभी बोल भी उठती थी। कुछ दिन बीमार रहकर एक दिन माघ की बदली में चिनगी चल बसे। लोगों को बहुत अचरज हुआ, जब पुजारी ने कहा चिनगी भगत की दाह-क्रिया गंगातट पर (जो वहा से प्राय तीन मील पर था) होगी। शर्म, संकोच या दबाव से ही चिनगी के भाई-बंधु उस बदली में लाश ले जाने के लिये तैयार हुए। पुजारी ने साथ जाकर गंगातट पर चिनगी का दाहकर्म कराया, क्रिया कर्म भी हुआ। लोग कहते थे—पुजारी पर चिनगी का पहले जन्म का कर्ज था।

पुजारी का एक बलिष्ठ बैल एक दिन लडते लडते उनके अपने बनवाये कुएँ मे गिर पड़ा। बहुत प्रयत्न से जीता तो निकल आया, किंतु उसका पिछला एक पैर बेकार हो गया। लँगड़े बैल से कोई काम लेना मुश्किल था। कम खतवाले कुछ लोगों ने कई बार कहा—बैल हमें बेच दीजिये। पुजारी का कहना था—बैल न बेचा जा सकता है और न काम के लिये दिया जा सकता है। तन्दुरुस्त और मजबूत होते वक्त उसने हमे कमाकर खिलाया है। क्या काम न कर सकने पर बूढे माँ-बाप बेच दिये जाते हैं?

थोडी सी महाजनी के अलावा पुजारी का प्रधान पेशा था खेती। खेती के सम्बन्ध मे किसान कट्टर सनातनी होते हैं। पुजारी का गाव बाजार, स्टेशन, शहर, सड़क सभी से बहुत दूर था, इसीलिए उनके गाँव मे खेती-सबंधी नई बातों का पहुँचाना मुश्किल था। तो भी पुजारी लोगो के मजाक करते रहने पर भी घर के काम के लिए आलू, मूली, गाजर और गोभी बोने लगे थे। एक बार वह कहीं लाल रङ्ग वाली बड़ी ऊख देख आये। उसे लाकर उन्होंने

पाँच बिस्वा खेत मे बो लिया। गाव और घरवाले कहते ही रह गये—यह ऊख क्या कोल्हू मे जाने पायेगी, इसे तो लोग दाँतो से ही साफ कर डालगे। ऊख की फसल अच्छी हुई, साथ ही लोगो की बात भी बहुत कुछ सच निकली, और नरम तथा मोटी ऊख पर छिप छिपकर बहुतो ने हाथ साफ किये। किंतु उससे यह फायदा हुआ कि दूसरे साल गाँव मे कई और आदमियो ने उसी गन्ने की खेती की। तीसरे साल तो पुजारी ने डेढ़ दो एकड़ बोया। ऊख इतनी जबर्दस्त हुई कि घरवाले चिंता करने लगे—यह ऊख तो साझेवाले पत्थर के कोल्हू मे आषाढ तक भी खत्म न होगी। पुजारी ने पहले आस पास के पत्थर का कोल्हू खरीदना चाहा। न मिलने पर बनारस के पास तक की हवा खा आये। पुजारी किसी बात का फैसला तुरन्त नही कर सकते थे। इसीलिये उन्हें अनेक बार मीठी-कड़वी भी सुननी पडती थी। उनके एक सम्बन्धी तो उन्हें 'जुड़वा रोग' (ठडक का रोग) कहा करते। दो-तीन बार खाली हाथ लौटने तथा काम के डेढ़-दो मास निकल जाने पर घरवाले और नाराज हुए। अत मे हफ्ते भर गुम रहने के बाद एक दिन पुजारी बैल पर लोहे का कोल्हू लदवाये पहुँच गये। गाँव मे, और शायद उस देहात मे भी, वही पहला लोहे का कोल्हू था। लोग डर रहे थे—कल तो अक्सर बिगड जाया करती है। बिगड जाने पर कौन मरम्मत करेगा ? किंतु पुजारी बेफिक्र थे। सयोग से कोल्हू बहुत अच्छा निकला। उसी साल उसका दाम सध गया। तीन चार साल काम लेकर पौन दाम पर उन्होने उसे बेच भी डाला।

पुजारी सादगी के पुजारी थे। वह एक नम्बरवाली मारकीन को बहुत पसद करते थे। कहा करते थे, यह कपडा बहुत मजबूत होता है, जाड़ा गर्मी दोनो मे काम आ सकता है। इसको पहननेवाला

न शोकीन ही कहा जाता ह और न दरिद्र ही। खद्दर के युग से कुछ दिन पूर्व ही वह इस ससार से चल दिये, नही तो पुजारी उसके अनन्य भक्त होते।

❀ ❀ ❀

पुजारी की भूरे बालावाली गोरा गोरी एक मात्र कन्या माँ की मृत्यु के एक-आध ही वर्ष बाद मर गई। पुत्रो मे बडा ननिहाल मे पढता था, बाकी तीन गाँव से तीन मील दूर के मदरसे मे पढने के लिये बैठा दिये गये थे। पुजारी अभी भविष्य का सुख-स्वप्न देख रहे थे। इसी समय एक घटना घटी, जिसने उस स्वप्न को चूर-चूर कर दिया। उनका बडा लडका, अब पिता के गाँव अधिक आने-जाने लगा था। पिता और उनके मित्रो की देखादेखी वह भी परमहस बाबा की कुटिया मे पहुचने लगा, और परमहस जी के एक शिष्य उसके कान मे वेदात और वैराग्य का मत्र फूकने लगे। वैराग्यशतक और विचारसागर के साथ देश देश के नदी-पर्वत, नगर-अरण्य के मनोरम चित्र उसके सामने खीचे जाने लगे। इसका असर पडना जरूरी था। आखिर पुत्र ने भी पिता की भाँति पूजा-पाठ शुरू किया। त्रिकाल सन्ध्या स्नान और एका-हार आरम्भ किया। पुजारी को तो इससे अधिक चिता न हुई, किंतु घर के सारे लोग सोलह वर्ष के लडके के इस रग-ढग को देखकर आशकित होने लगे।

एक दिन (१६१० ई० मे) अचानक लडका गायब हो गया। यद्यपि दो बार पहले भी वह भागकर कुछ महीने कलकत्ता रह आया था किन्तु वैराग्य का भूत सिर पर सवार न होने से उतना डर न था, इसीलिए उस समय इतना चिता न हुई थी। पुजारी की चिता तब दूर हुई जब उन्होंने सुना, लडका घूम-फिर कर बनारस लौट आया है, और वहा सस्कृत पढ रहा है। पुजारी न

खुशी से सस्कृत पढ़ने की अनुमति दे दी, और उन्हे आशा हो चली कि अब वह हाथ से न जायगा।

दो वर्ष बीतते-बीतते उन्होने सुना—लडका बनारस से कहीं चला गया। कुछ महीनो बाद जब उन्हें मालूम हुआ कि वह दूसरे प्रात बिहार के एक मठ मे साधु हो गया है तब वह अपने बहनोई महादेव पडित को लेकर वहाँ पहुँचे। उन्होने लडके की अनुपस्थिति मे समझा-बुझाकर मठ के महत जी को इस बात पर राजी कर लिया कि वह घरवालो को दर्शन देने के लिए एक बार अपने चेले को जाने देंगे। आने पर लडके को यह बात अरुचिकर मालूम हुई, किंतु दूसरा चारा न था। लौटाने का वादा तो झूठा था, तो भी भोले-भाले महत पडित की चिकनी-चुपडी बातों मे आ गये। लडका घर पर लाया गया। अब एक ओर तो लडके के लिए (पुजारी के स्वभाव के विरुद्ध) शौकीन कपडो तथा पान आदि का प्रबध किया गया और दूसरी ओर उसके जाने-आने पर कडी निगाह रक्खी जाने लगी। लड़का एक बार भागा लेकिन स्टेशन पर पुजारी ने जा पकड़ा। इस तरह काम न बनते देखकर लड़के ने विश्वास पैदा कराना चाहा, और तीन मास तक अवसर ढूँढने के बाद वह अपने इस बदी-जीवन से मुक्त हुआ।

❀ ❀ ❀

पुजारी को इसका कितना दु ख हुआ, यह इसी से मालूम होगा कि चिंता के मारे दो वर्ष बीतते बीतते उनके दिमाग मे एक प्रकार का उन्माद सा हो गया। लडका उस समय आगरे मे पढता था। एक मित्र ने सब हाल बतलाकर एक बार पिता को देखने के लिए कहा। इस पर लड़का घर आया। पुजारी को प्रसन्नता ही नहीं हुई, बल्कि जब उनके दिमाग की गर्मी दूर करने के लिए फस्द खोलने वाला लाया गया तब उन्होने कहा—क्या

करोगे ? अब मेरी तबीअत अच्छी हो गई है। एक हफ्ते के बाद लडके को इच्छानुसार जाने भी दिया गया।

❀ ❀ ❀

दो वर्ष और बीत गये। लडके का कोई पता न था। एक दिन पता लगा, वह बनारस आया हुआ है। फिर जबर्दस्ती घर पर लाकर नजरबन्दी का वही अस्त्र काम मे लाया गया। इस बार उसने अपने बंधुओं से कह दिया—इस बार निकल जाने पर फिर तुम नही पकड़ सकोगे। आखिर आदमी का बच्चा कब तक बाँधकर रक्खा जा सकता है ? एक दिन वह फिर निकल भागने मे समर्थ हुआ। बनारस से वह विन्ध्यपर्वत की तलहटी मे पहुँचा। किंतु पुजारी को लडके के एक मित्र ने पता बता दिया, और वह भी वहाँ जा पहुँचे।

पुजारी उन आदमियो मे से थे, जो घोर से घोर वेदना को हृदय के भीतर इस तरह छिपा सकते हैं कि उसकी छींट आँख तक भी नही पहुँचने पाती। तो भी एक बार उन्होने पुत्र के सामने दिल खोलने का प्रयास किया। 'नही' कह के अभी हल्ला-गुल्ला सुनने की हिम्मत न होने से पुत्र ने उन्हे वही कही रहकर प्रतीक्षा करने के लिए कह दिया। पुजारी यद्यपि पुत्र की मानसिक अवस्था को समझने लगे थे, और कभी-कभी चाहते भी थे, कि उसे अपनी मर्जी पर रहने दियाजाय, किंतु अंत मे पुत्रस्नेह का पल्ला भारी हो जाता था।

उनकी वह अर्द्ध-विक्षिप्तावस्था जानकारो के हृदय मे सहानुभूति पैदा किये बिना नही रहती थी। लडका जिनका अतिथि था, उनकी माता पुजारी की अवैतनिक गुप्तचर थीं। कुछ सप्ताहों बाद जब लड़का चुपचाप इक्के पर सवार हो स्टेशन की ओर भाग चला, तब पुजारी को भी खबर मिलते देर न लगी, और इक्के के पहुँचने से कुछ ही देर बाद वह भी स्टेशन पर आ धमके। दस या बारह मील

के रास्ते को उन्होंने दौड़कर ही काटा था। वह जानते ही थे कि एक बार रेल में बैठ जाने पर उसे पाना उनके लिए असम्भव हो जायगा। ट्रेन के आने में पन्द्रह-बीस ही मिनट की देर थी।

लड़के ने साथ छोड़ देने के लिए जब कुछ अधिक कहना चाहा, तब पुजारी बच्चों की भाँति फूट-फूटकर रोने लगे। स्टेशन के यात्री इकट्ठे होकर लगे उसकी लानत-मलामत करने। जान बचाने के लिए उसे फिर बनारस आना पड़ा। बनारस में आकर उसने समझाकर कह दिया—आप पकड़कर मुझे नहीं रख सकते। मेरी इच्छा घर जाने की बिलकुल नहीं है। घर न जाने की मैं प्रतिज्ञा कर चुका हूँ। आपके हठ से अपने ध्येय को छोड़ने की अपेक्षा मुझे मरना प्रिय होगा।

पुजारी शायद पहले से काफी सोच चुके थे। उन्होंने तुरन्त और बहुत संक्षेप में कहा—अच्छा अब मैं तुम्हें नहीं रोकूँगा, किन्तु मैं भी घर न जाऊँगा। यहीं काशी में रहकर जिन्दगी बिता दूँगा। लड़के को इतनी आसानी से छुटकारा पाने की कभी आशा न थी। वह दूसरी ट्रेन से चला गया।

कितने ही महीनों के बाद घरवाले मनाकर पुजारी को घर ले गये। घर उन्हें काल-सा लगता था। धीरे-धीरे फिर चिन्ता ने देह और दिमाग पर प्रभाव जमाया। इसी दुःखमय चिन्ताग्रस्त अवस्था में उन्होंने चार वर्ष और बिताये। १९२० ईसवी का जून या जुलाई का महीना था, जब कि सुदूर दक्षिण में पुत्र को उनके एक बाल-मित्र का पत्र मिला—मामा का देहान्त हो गया। पुत्र की आँखों में आँसू नहीं आये। चिट्ठी की बात पूछने पर उसने जिस प्रकार अपने मित्रों को यह खबर सुनाई, उससे वह बोल उठे—तुम्हारा दिल पत्थर का है, पिता की मृत्यु को सुनकर भी तुम्हें रंज नहीं हुआ!

उन्हें पुत्र के हृदय के भीतर की वास्तविक दशा यदि मालूम होती, तो ऐसा न कहते।

५

स्मृतिज्ञानकीर्त्ति

(सो ा-ो) ङोन्-पो ग्ब् ले थोङ (ला ा) दुइ ।
क्यि-पो चे पा इन् (ला ा) जुङ् ।
नग्-पो छेर् मा शु (ला-ा) दुइ ।
सेम् पा चो ले मि (ला-ा) दु ॥१॥*
(मो-ो-ो) सेम्-पा चो-व म- (ला-ा) नङ् ।
रि- सङ् सुग् पा स- (ला ा) मो ।

* हरी पत्तियों को देखते समय,
सुखी होने की स्मृति हो आती है ।
काले काँटों के लगते समय,
चित्त में वेदना मात्र ही रह जाती है ॥१॥
चित्त को दुखित मत करो,
(यह) घना (जैसा) सुन्दर पवन का या है ।
घना फट जाने पर,
सुन्दर भाग्य (सूर्य का उदय) हो सकता है ॥२॥
चँवरियाँ हरित उपत्यका की भूषण हैं,
हरित उपत्यका में श्वेत पुष्प हैं ।
यदि (उस) हरित उपत्यका को हानि न पहुँचो,
तो फाराजे जैसा भाग्य भाण्डार खुल जायगा ॥३॥

मुग् पा तङ्-बड् योङ्-(ला-ा) सु ।
क्यि-पो ले-का यो (ला-ा) डो ॥२॥
(सो-ो ो) जोम् बा पङ् गी ग्यन्- (ला-ा) रे ।
पङ् गी मे-तोग् कर् (ला-ा) पो ।
पङ ला जो या म (ला-ा) तोङ् ।
यु डा ले-क्यी खोर् (ला-ा) याङ् ॥३॥

दिन के दस बज चुके है। रात की वर्षा के बाद आज मेघ-रहित आकाश में सूर्य का प्रखर प्रकाश फैल रहा है। पत्थरों से शून्यप्राय तानग् के पहाड़ो पर घास की हरी सी मखमल बिछी हुई दिखाई दे रही है, जिसमें अगणित चॅवरियाँ और भेड-बकरियाँ चर रही हैं। नीचे की ओर दूर एक विस्तृत उपत्यका में ब्रह्मपुत्र की रुपहली पतली-सी धार भूलभुलैया खेलती जा रही है। उससे अति दूर ऊपर की ओर हटकर एक नाले मे कितने ही चॅवरी के बालों के काले-काले तम्बू लगे हुए है, जिनकी छतो से काला धुआँ आकाश मे उठ कर दूर तक फैल रहा है। इन तम्बुओ के पास बॅधे कुत्तो की समय समय पर होनेवाली 'हाउ हाउ' की आवाज के सिवा और कोई मानव-चिह्न वहाँ दिखाई नही पडता।

तम्बुओं के पीछे की पहाड़ी रीढ पर बहुत दूर दक्षिण की ओर एक तरुण बैठा हुआ है। अपने लबे शरीर, असाधारण गोर वर्ण, भूरे केश और बड़ी बडी आँखो के कारण, मैले पट्टी के छुपे (भोटिया चोगे), और चमड़े के ह्गो (जूते) के रहते भी वह भोट-देशीय नही जान पडता। युवक की एक ओर बकरी के बालो का एक मोटा झोला, डडा और गोफन पड़ा हुआ है, दूसरी ओर रीछ जैसे बालो और पीली आँखोवाला एक भीमकाय काला कुत्ता बैठा हुआ है, जो रह-रह कर सहलाने की इच्छा से अपनी गर्दन को युवक की गोद मे डाल देता है। किंतु चितामग्न युवक आज

उधर ध्यान ही नहीं देता। उसके सामने कुछ कदमों पर सफेद ऊनी छुपा और कनटोप जैसी टोपी पहने झोली और गोफन लिए एक दस वर्ष की लड़की खड़ी है।

लड़की ने कुछ और आगे बढ़कर कहा—"अबू ने-ने,* तुम तो पहले गीत गाने के लिए बहुत आग्रह किया करते थे—एक गीत गाओ, एक छोटा-सा गीत सुनाओ। आज मेरे तीन गीत गाने पर भी क्यों तुम ऐसे चुप हो?

युवक अब भी चिंतामग्न था।

लड़की उदास होकर—"तुम बा-ला (पिता) की उन दो चार गालियों से तो दुखी नहीं हो गये? काम में गफलत होने पर मालिक ऐसा किया ही करते हैं—मारते भी हैं, किंतु नौकर उनका खयाल थोड़ा ही करते हैं?

युवक ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखों को ऊपर उठाया और उसे डोल्-मा के गीत का स्वागत न करने का पछतावा होने लगा। उसे ता-नग् में नौकरी करते एक साल हो गया था। इस सारे समय में डोल्-मा (उसके मालिक की लड़की) से बढ़कर उसे सहृदय मित्र दूसरा नहीं मिला था। ता-नग् में आते समय उसका भोट-भाषा का ज्ञान नहीं-सा था। उसके सिखाने में डोल्-मा गुरु बनी। एक बार बीमार पड़ जाने पर घर में डोल्-मा ही थी, जो हर समय पास मौजूद रहकर उसकी सेवा-सुश्रूषा में लगी रहती थी। एक अनपढ़ ग्रामीण कन्या होते हुए भी डोल्-मा के बर्ताव में एक प्रकार की मधुरता थी। अपने अनेक देश-वासियों की भाँति यद्यपि डोल्-मा ने भी अभी तक जल के दीर्घकाल के स्पर्श से अपने शरीर को अपवित्र नहीं होने दिया है, तो भी चेहरे या हाथ जहाँ से भी मैल की एक पपड़ी निकल

* चरवाही के दिनों में स्मृतिज्ञान का यही नाम था।

गई है, जहाँ का सुन्दर गुलाबी रंग चमकने लगता है। गोल होने पर भी डोल्-मा का चेहरा उतना चिपटा नहीं है, उसकी आँखें भी अपेक्षाकृत अधिक खुली हुई हैं। नाक भी एक-दम कपोलशायिनी नहीं है। इन बातों के कारण डोल-मा का मुख और शरीर सुन्दर मालूम होता है।

युवक ने बड़े प्रयत्न से मुख पर हँसी की रेखा लाकर कहा—

"नहीं, डोल्-मा! कोई बात नहीं है आज पहाड़ों के पड् (=हरी उपत्यका) को देखकर मुझे अपनी जन्म-भूमि याद आ गई। हमारे यहाँ पहाड़ तो नहीं है, किन्तु थङ् (=मैदान) की हरियाली प्रायः साल भर देखने में आती है।"

"अबू-ने ले! क्या तुम्हारे यहाँ हमारी चङ्-पो जैसी नदी भी है?"

"इतनी ही दूर पर और इससे बड़ी। लेकिन पहाड़ न होने से हम उसे देख नहीं सकते।"

"पहाड़ न होने पर तुम्हारी चँवरियाँ और भेड़-बकरियाँ कहाँ चरती हैं?"

"चँवरियाँ हमारे यहाँ नहीं हैं।"

"ओह! तब तो तुम्हारे यहाँ के लोग बहुत ही दुखी होंगे। उनको तम्बू और रस्सा बनाने के लिए बाल न मिलता होगा। उनको दूध, मक्खन और छु-रा (सुखाया पनीर) नसीब न होता होगा। वे बेचारे अपनी पीठों पर ही बोझ ढोते होंगे।"

स्मृति ने डोल्-मा की बातों का खंडन नहीं किया। वे अपने को डोल-मा के ही तल पर रखना चाहते थे। वे बोले—"हाँ-डोल्-मा! हम लोग बड़े दुखी हैं, गरीब हैं। तभी तो मैं तुम्हारे यहाँ नौकरी करने के लिए आया हूँ।"

"अबू! क्या कभी तुम्हें अपने मा-बाप याद आते हैं?"

"बहुत कम।"

"तुम्हारे कितने बाप है ?"

"एक।"

"ओह ! तो बेचारे को अकेले ही खेत का काम करना पड़ता होगा, भेड़ो की चरवाही और बाजार का सौदा भी अकेला ही करना होता होगा। क्या तुम्हारी माँ एक और बाप नही ला सकती थी ?"

"नही, डोल् मा ! उस देश म ऐसा रवाज नहीं है।"

डोल् मा को इस बुरे रवाज-द्वारा पीडित लोगो के प्रति सहानुभूति हो आई। इसी समय सीटी की आवाज आई।

"डोल मा ! वह देखो कोन चाग मुँह मे अँगुली डालकर सीटी बजा रहा है। तुम यही रहो, मैं जाता हूँ, शायद भेडिया आया है।"

स्मृति के उठते ही ट-शी—यही उस काले कुत्ते का नाम था—भी उठकर खडा हो गया और साथ-साथ भेडो की ओर चलने लगा। भेडें पहाड की दूसरी ओर चर रही थीं। स्मृति यद्यपि उतराई मे अपने साथियों की तरह सरपट तो नही भाग सकते थे, तो भी साल भर मे उन्होंने अपने को बहुत निडर बना लिया था, और काफी जल्दी-जल्दी चल लेते थे। भेडा को ऊपर की ओर भागते देख ट शी दौडकर पहले वहाँ पहुँचा। ट-शी के लम्बे डील-डौल और भयकर आवाज को सुनते ही भेड़िया तिरछा ऊपर की ओर भागता दिखाई पड़ा। ट-शी ने कुछ दूर तक पीछा किया, किन्तु चढाई मे वह भेडिये की गति-से दौड नही सकता था। लोटते वक्त उसे एक खरगोश दिखाई पडा। किस्मत का मारा ट शी के डर से नीचे की ओर भागने लगा, और चन्द ही मिनटों मे वह ट-शी के कान तक फटे मुँह के बीच म आ गया।

स्मृति और कोन् चाग् ने भेडा को पहाड की दूसरी ओर हाक

दिया और दोनो एक छोटी चट्टान पर बैठ गये। थोडी देर मे ट-शी भी आ गया। उसके मुँह मे लगा लोहू और खरगोश के नरम बाल बतला रहे थे कि ट-शी को भेडिया भगाने का पारितोषिक मिल गया है।

❀ ❀ ❀

"अवू! इसमे क्या लिखा है?"—डोल्-मा ने एक चट्टान पर बैठे हुए स्मृतिज्ञान से पूछा।

"डोल-मा! इसमे भगवान के मुख से निकली गाथायें हैं। इन्हे उदान कहते हैं।"

स्मृति को ता-नग् मे चरवाही करते पाँच वर्ष बीत गये। डेढ वर्ष के भीतर ही उन्हे भोट-भाषा बोलना-समझना अच्छी तरह आ गया था। भोट वर्णमाला को तो लो-च व पद्मरुचि ने नेपाल में ही उन्हे सिखा दिया था। भाषा सीख लेने पर अब उन्हे पुस्तकों के पढने की इच्छा हुई। लेकिन वे नही चाहते थे कि लोग उनकी विद्या को जान जायँ, और फिर चरवाही उनसे छिन जाय। ता-नग की छोटी गुम्बा (= मठ) मे एक बूढा ढाबा (= साधु) रहता था। स्मृति ने सेवा-पूजा करके उनसे घनिष्ठता बढाई। किसी समय, उक्त मठ मे कोई विद्वान् साधु रहा करता था। उसने पुस्तकों का एक सुन्दर सग्रह जमा किया था। मालूम होता है, साठ-सत्तर वर्ष से किसी ने बुम् (शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता) को छोडकर बाकी पुस्तकों को छुआ तक नहीं, इसीलिए उन पर अगुल-अगुल मोटी गर्द जम गई थी। कहने पर बूढे ने झाडकर फिर से उन पुस्तकों के बाँधने की अनुमति दे दी। उस वक्त स्मृति ने देखा कि उनमें दर्शन, बुद्ध-उपदेश आदि की कितनी ही पुस्तकें जिनमें कुछ ऐसी भी हैं जिन्हे वे सस्कृत में पढ चुके थे। साथ

ही वहाँ उन्हे भोट-भाषा का एक व्याकरण तथा उनके कंठस्थ किये कोश का भोट-अनुवाद भी मिला। अब तो स्मृति प्राय प्रति दिन बूढ़े के पास पहुँचते थे। उसके लिए पानी भर लाते थे। झाड़ू दे देते थे। जूते की मरम्मत कर देते थे। और कभी-कभी अपने खाने की चीजो मे से बचाकर कुछ उसे देते थे। वे चमड़े के एक छोटे चोंगे मे पुस्तक के पत्रो को डालकर अपने साथ ले जाते और भेड़ो को चराते वक्त किसी पहाडी चट्टान पर बैठ पन्ने निकालकर पढ़ने लगते थे। पूछने पर चरवाहो से कह देते थे—धर्म का पाठ कर रहा हूँ।

आज भी स्मृति एक पुस्तक पढ रहे थे।

कोन्-चोग् ने झोले को जमीन पर पटककर हाँफते हुये कहा—"अबू ! अबू ! उस ना-ा-ले मे एक बडी, दुड्-मो-नग् मो (काली चुड़ैल) है। आज मैं बाल-बाल बच गया। मैं भेडो को उधर हाँकने गया था। देखा, दूर नीचे–उस बडी शिला के नीचे–एक सफेदे के वृक्ष जैसी लम्बी काली, दुड् इ-मो खडी है। वह मेरी ही ओर देख रही थी। उसकी लाल लाल आँखे अब तक मुझे याद हैं। मैं जान छोड़कर वहाँ से भागा। ओह ! थोडा और नीचे जाने पर वह जरूर मुझे खा जाती।"

"दुड्-मो-नग्-मो !"—डोल्-मा ने एक साँस में कहना शुरू किया—"हाँ ! मेरी माँ बतलाती थी कि उस नाले में एक काली चुड़ैल रहती है। माँ ने खुद और दूसरी औरतो ने भी कडे बिनते वक्त उसे देखा है। उस पूरबवाले नाले मे एक दुड्-पो-नग् पो (काला भूत) रहता है। वह तो दौडकर पकडता है। उस दिन देखा नहीं, छे-रिङ् की याक् (=चॅवरी) मुँह से खून निकालकर मर गई। यह उसी काले भूत का काम था। ओह ! मेरा तो कलेजा

कापता रहता है। हर नाले, हर चट्टान, हर मैदान मे भूत ही भूत हैं। उस मुर्दा काटने की चट्टान* पर तो सैकडो तो दो इक्-पा हैं। शाम होते ही ये नाचने गाने लगते हैं। और उस पश्चिमवाले मैदान म ? वहाॅ पहले अच्छा खासा गॉव था, लेकिन थो-गो मेन पा ने उसे उजाड दिया। अँधेरा होने के साथ ही मुँह से आग निकाल-निकालकर वे इधर मे उधर दौडने लगते है। और डे-कु-शुइ ? वे तो गाव में भी भरे पडे हैं। एक दिन मैं अ-चा मी-मा के घर जा रही थी। रास्ते मे डे कु शुइ मेरे आगे मे पीछे, दाहिने से बाये सुर-सुर करता निकल जाता था। मुझे हैरान कर दिया। यद्यपि मा ने बतलाया था—डे कु शुइ मारता-पीटता नहीं, तो भी मैं लौटते वक्त अ-चा मी मा को बिना साथ लिये घर नहीं लोटी।

"डालू-मा ! और अब की गर्मियो की एक बात नही जानती। अ खु मो नमू, बा ला (=पिता) और मे छत पर बैठ थे। छे-पा चो ङ (पूर्णमासी) था। चारो और दूध सी चादनी छिटकी हुई थी। देखने क्या है ? दक्षिण ओर—चाङ्-पो की तलहटी से—एक काली काली चीज निकली। धीरे धीरे बढते बढते वह आसमान तक पहुँच गई। अ खू सो नम ने कहा—शा-लइ दोङ्-शि ! शा लइ-दोङ् शि। सचमुच वह शो ल (कोयले) से भी काला था। बढते-बढते उसका सिर तारो तक पहुँच गया। उस

---

*भोट मे मुर्दा न गाड जाते, न जलाये जाते हैं। इसकी जगह मुर्दे एक खास चट्टान पर ले जाये जाते हैं, जहाॅ रा का बा लोग पहले मास को काटकर ढोककर रख लेते हैं, फिर हड्डियो को चूरकर सत्तू में मिला गिद्धों को खिला देते हैं, फिर मास भी उन्हें दे देते हैं। इस क्रिया में दो घटे से अधिक समय नहीं लगता।

वक्त वह दूर था, इसलिए हमने पर्वा नहीं की। किंतु उसके बाद वह लगा अपने सिर को हमारी ओर झुकाने। ओह! क्या कहूँ? हम लोगों ने एक दूसरे से कहा भी नहीं, और लगे सीढ़ी से जल्दी-जल्दी नीचे उतरने। नीचे मकान में पहुँचते-पहुँचते शो लङ् गोङ शि का मुँह हमारी छत से लग गया, हम लोग साँस रोककर घर के कोने में छिप गये।"

"और को-चोग! हमारे रसोई घर में एक तोङ-डे-पी था ८। रात के वक्त सब के सो जाने पर वह चूल्हे की भाथी चलाने लगता है। सोते-सोते हम लोग साफ भाथी की फू फू सुनते हैं। हमारे भेडों के घर में तो एक शिन-मो (= चुडैल) है। एक दिन मेरी माँ को उसने पकड़ लिया था, फिर लामा छोन्-जे ने बहुत पूजा पाठ किया, तब उसने छोड़ा। लेकिन, क्या बात है। को-चोग! अ-बू-ने ले रात दिन अकेले-दुकेले जहाँ चाहते हैं चले जाते हैं, उन्हें डर नहीं लगता। अबू! क्यों कभी तुमने भूत देखा है?"

"नहीं, मैंने तो नहीं देखा, किन्तु तुम लोगों को दिखा सकता हूँ।

दोनों एक साथ बोल उठे—"कैसे? तुमने खुद भूत नहीं देखा तब फिर दूसरों को कैसे दिखाओगे?"

"मैं भूतों को पैदा करता हूँ।"

"क्या कहते हो मैं भूतों को पैदा करता हूँ। क्या भूत पैदा किये जाते हैं।"

"हाँ, डोलू-मा! सपने में तुम कैसी चीजें देखती हो? वही चीजें न जिनकी-सी शक्ल पहले तुमने कभी देखी है?"

"हाँ, हाँ?"

"उसका कारण क्या है? जो चीज हम देखते हैं उसकी एक छाया मन पर अंकित हो जाती है, उसी को हम सपने में देखते

हैं। इसी प्रकार जैसे स्थान पर जिस प्रकार के भूत होने की बात हम सुनते रहते है, वैसा स्थान और समय मिल जाने पर हमारे मन का खयाल ही भूत का रूप धारण कर बाहर चला आता है। भूत-प्रेत असल मे हमारे ही मन की उपज है, जिसे यह असल बात समझ मे आ जाती है, मन से भय का खयाल हट जाता है, उसे वे चीज नहीं दिखाई देतीं।"

"किन्तु अनू! तुम कह रहे थे, हमे भूत दिखाने की बात, सो कैसे ?"

"क्योंकि, तुम्हारा मन भूत-प्रेत के भाव से भरा है, तुम भूतों से डरती हो, इसलिए यदि मै तुम्हारे दिल मे विश्वास उत्पन्न कर तुम्हें भूतो का आकार-प्रकार वर्णन कर उनके देखने की प्रेरणा करूँ तो तुम उन्हे देखने लगोगी। असल मे तो वह भूत मेरा पैदा किया नहीं होगा। उसे तो तुम्हारा मन पैदा करेगा।"

"तो क्या भूत है ही नही ?"

'ऐसा कहने से कोई फायदा न होगा, क्योकि कमजोर दिल वाले स्वय भूत पैदा कर-कर देखते रहेंगे, और तुम्हारी बात को झूठ बतलायेंगे। जो समझाने से भूतो के न होने की बात समझ सके उसके लिए वैसा करना ठीक भी है। लेकिन जिसके भीतर बात धँसे ही नही उसे अपनी ओर से भूत दिखलाकर, मन की अद्‌भुत शक्ति का ज्ञान करा, उस खयाल को दूर करना चाहिए। बिलकुल अजान को भारी पीड़ा मे पड़े देखकर कितने ही जानकार जतर-मतर देते हैं। उसका मतलब सिर्फ मन को मजबूत करना है। सच बात तो यह है कि यदि मन मजबूत हो जाय तो वह आदमी न भूत देख सकता है, न उससे डर सकता है।"

"क्या सचमुच मन ही भूत पैदा करता है ?"

"हाँ, मन की ताकत बहुत भारी है। उस दिन मैंने तुम्हे दोर्-जे-न्न (=बोध गया), छोङ्-कि-खोर् लो (=सारनाथ) चम्-चोग-टोङ् (=कसया), और लुम्-पे-छल् (लुम्बिनी) दिखलाये थे न ?"

"हाँ, दोर्-जे-न्न् का ऊँचे शिखर वाला मंदिर तो अब तक मुझे याद है, बहुत बड़ा है। वैसा मन्दिर तो हमारे देश मे कहीं नहीं है।"

"तो वह दर्शन क्या था ? क्या सचमुच तुम दोर्-जे-दन पहुँच गई या दोर्-जे-न्न तुम्हारे पास चला आया ? नहीं, तुम्हारे चित्त को और जगहों से हटा मैंने जैसी लम्बी-चौडी ऊँची इमारत तुम्हे बतलाई, तुम्हारे मन ने वैसी ही एक चीज गढकर सामने रख दी। भूत के देखने मे भी बचपन मे सुने जाने वाले खयाल ही मन को भूत पैदा करने पर मजबूर करते है।"

"अबू-ने ला ! तुम्हारी बाते सुन-सुनकर तो मेरा मन भी उसे ठीक मानने लगता है, लेकिन फिर अकेले मे डरने लगती हूँ।"

"क्योंकि बचपन से तुम्हारे मन मे घुसे खयाल अभी बहुत मजबूत हैं। जब वे निकल जायँगे या निर्बल हो जायँगे तब तुम भी भूतो की दासी नही रहोगी, बल्कि जरूरत पड़ने पर मेरी तरह भूतो को जन्म देने वाली बन जाओगी—अपने लिए नहीं दूसरो के लिए।"

❀ ❀ ❀

"अबू ! भेडे घेरे म कर दी। अच्छा लो, यह मट्ठा रक्खा है, पी लो, फिर ऊखल मे इस थोड़े-से सत्तू को पीस डालो।"—भेड़े चराकर शाम को लौटे हुए स्मृति से यह कहते मालकिन ने भुने जवों से भरी चॅगेरी की ओर इशारा किया।

स्मृति को रात रहते ही उठना पड़ता था। चॅवरियो और भेड़ों के बाँधने की जगह से वे गोबर और मेगनियो को उठाकर बाहर

कूडे मे फेकते थे। झाडते-बुहारते, पानी भरते और मालकिन की नई-नई फरमाइशो को करते-करते पहर दिन चढ आता था। तब थोडा-सा थुक्-पा (चरबी, मास, सत्तू डालकर बनी पतली लेई जैसा भोजन) पीते, एक टुकडा सूखा मास खाते, और फिर झोले में भुना जो डाल भेडो को ले जाने के लिए तैयार हो जाते। दिन भर की चरवाही के बाद जब लौटते तब फिर भेडो को उनके बाडे मे करते ही मालकिन कामो की फरमाइश करने लग जाती थी। अबू-ले ला को बिना काम मे लगे देखना वे बर्दाश्त ही नहा कर सकती थीं। दिन भर के काल से थके माँदे स्मृति जब खा-पीकर सोना चाहते थे, उस वक्त उन्हें पत्थर के खरल जसी ऊखली मे सत्तू पीसने का काम बतला दिया जाता था।

बेचारे स्मृति का बदन आज दिन भर के काम स चूर-चूर हो रहा था। ऊपर से नींद बडे जोर से आ रही थी। पीसते-पीसते। एक बार ज्योंही झपकी ली, उनका सिर लोढ़ पर तडाक से जाकर बजा। अभी उस चोट की पीडा से उनका दिल तिलमिला ही रहा था कि मालकिन ने वाग बाण छोडने शुरू किये—"अरे, अबू! सत्तू सत्यानाश करके ही छोडोगे? बडे बेपरवाह आदमी हो। क्या जो बिखेर दिये?"

स्मृति की आँखों में आँसू छलछला आये। उन्होने अपने मन मे कहा, क्या इन जवा से भी मेरा सिर सस्ता है, जो उसके फूटने की बात न पूछकर जवा के बिखेर देने की बात कही जाती है?

❀ ❀ ❀

जाडे का दिन था, हड्डी तक को जमा देनेवाली तिब्बत की ठडक थी। स्मृति भेडो को चरने की जगह छोडकर भेड की पोस्तीन

पहने एक चट्टान की आड में धूप ले रहे थे। एकाएक ऊपर उड़ते बाज के चंगुल से छूटकर एक मरी मैना उनकी गोद में आ गिरी।

"अरे मैना! यहाँ कहाँ! मैना तू कैसे आई? आह भारत के आम्रकुञ्जों में निर्द्वन्द्व विहरनेवाली मैना! तू कैसे इस बेगाने मुल्क में!! मैना! तेरी तरह मैं भी इस अपरिचित देश में आ पड़ा हूँ। जैसी वेदनायें तूने सहीं, मैं भी सात साल से दिन-रात उन्हें ही सह रहा हूँ। और कौन जानता है, तेरी तरह मुझे भी अज्ञात गुमनाम इस बियाबान में शरीर छोड़ना पड़े! मैना! तू सौभाग्यशालिनी है, तुझे इस अपरिचित स्थान में भी मुझ जैसा अपना देशवासी दो आँसू बहाने के लिए तो मिल गया। मेरे भाग्य में तो शायद यह भी बदा नहीं है!"

कहते-कहते स्मृति का गला भर आया।

❀ ❀ ❀

"अबू! क्या कर रहे हो इतनी देर से? देखो, काठ की बाल्टी ले आओ, बछड़े को खोल दो, चँवरी दुहूँगी।"

"जैसी आज्ञा"—कहकर स्मृति ने बछड़े को छोड़ दिया और बाल्टी मालकिन को थमा दी।

"अच्छा, अबू-ने-ले चँवरी ऊँची है, बैठ जाओ, मैं दूध दुह लूँ।"

स्मृति घुटनों के बल बैठ गये और मालकिन बेतकल्लुफी से उनकी पीठ पर बैठकर दूध दुहने लगी।

स्मृति जवान थे। उनका शरीर भी मजबूत था। किन्तु अत्यधिक परिश्रम और भोजन की दुर्व्यवस्था ने उनके शरीर को निर्बल बना दिया था, ऊपर से पिछले मास के ज्वर ने उनके सोने के शरीर को मिट्टी में मिला दिया था। सकोच के मारे उन्होंने

नहीं तो न किया, किन्तु मालकिन के शरीर के बोझ को सँभालने मे उनकी बुरी हालत थी। एक बार उनके जैसे आदर्शवादी की आँखे भी डबडबा आई और वे अपने मन में कहने लगे—आह भोट देश! तेरे यहा मनुष्य का कुछ भी मोल नहीं। भारत मे भी दास है। उनकी खरीद-फरोख्त भी होती है। वे सताये भी जाते हैं। किंतु मनुष्य से पीठे का काम तो वहाँ भी नही लिया जाता।

❀ ❀ ❀

रि-ग्रोङ्-जिन-पा ग्यु-कर्-ठेङ्-वर् चे।
ञन-मो-ग्य-ला ग्यु-गा रब् पङ् ने॥
डङ्-वइ छु नङ् दि-ना दा-गा शे।
यिब्-ला छन मर जिन-पा ची-पइ लो॥*

"चोला![†] क्या कहते हो? यह गीत तुम्हारे चरवाह ने बनाया है?"—(चे-से-चब्) सो नम् ग्यल्-छन् ने पूछा।

जीभ निकाल करके धनी और बड़े प्रभावशाली विद्वान् साधु चे-से-चब लो-च-वा के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए स्मृति के मालिक ने कहा—"हाँ कु-शो! वह इस तरह के अडबड गीत बहुत बनाया करता है, और दीवारो, पत्थरो और लकड़ियो पर जहा-तहाँ लिख देता है। उसके साथी चरवाहों को उसके बनाये बहुत से गीत याद है?"

"चरवाहा कितने दिनो से तुम्हारे पास है?"

"आठ वर्ष हो गये।"

---

*तारा मालाधारी शशधर, रात्रि के नभ में चलना छोड़, इस निर्मल (चंचल) जल में चल रहा है, इसने ऐसा रूप धारण किया है—यह (सोचना) बच्चों का ख्याल है।

†साधारण गृहस्थ के लिए कोमल सम्बोधन।

"और उम्र ?"

"यही बत्तीस-तेंतीस की होगी।"

"चरवाही छोडकर दूसरा काम क्या नहीं देते ?"

"कहता तो हूँ, किंतु वह उसी को पसन्द करता है। वह काम मे बडा मुस्तैद है। गुस्सा होना तो जानता ही नहीं। इसलिए हम लोग नही चाहते कि उसकी मर्जी के खिलाफ काम लिया जाय।"

"उसका जन्म क्या तुम्हारे गाव का है या ल्हो-खा का ?"

"नही, कु-शो-ला ! न वह हमारे गॉव का है- न ल्हो-खा का। उसकी सूरत हमारी ही तरह की है। बडी लम्बी भोडी-सी नाक है। हमारे गॉव के बूढ़े अ-खू-तोन्-ग्य बहुत घूमे हुए हैं। वे कहते हैं अ-बू-ने-ला का मुँह जो-वो-अतिशा (स्वामी दीपकर श्रीज्ञान) से बहुत मिलता है। वे ला तो ठीक नही बतलाता। पूछने पर कह देता है—दक्षिण मे नेपाल की ओर मेरे माँ-बाप रहा करते थे।"

"चो ! तुम नहीं पहचानते, वह कोई महापुरुष है। भेष बदलकर तुम्हारी नौकरी कर रहा है।"

"नही कु-शो-ला हम लोग तो अधिक पढे-लिखे नही हैं। इतना जानते हैं कि वे ला को डोल्-मा (=तारा) की स्तुति याद है। वह बडा आज्ञाकारी नौकर है, इसलिए हमें बहुत प्रिय है।"

चे-से-चब् को अब निश्चय हो गया कि उनके मेजबान् का चरवाहा साधारण आदमी नही है। उडती खबर उन्हे मिली थी कि एक भारतीय पडित ता-नग् मे कई वर्षों से भेड चरा रहा है—ठीक जान पडी। उन्होने घर के मालिक से पूछा—"चो-ला ! अ-बू-ने-ला कहाँ है ? क्या मै उन्हे जाकर देख सकता हूँ ?"

"कु-शो-ला ! भेड़ो के साथ आता ही होगा। आप क्यो तकलीफ करेंगे ?"

भाषा में अनुवाद करना चाहता था। स्मृति के बहुत जिद करने पर उसने कहा—"तब मैं भी यही आपके साथ रहूँगा।" अंत मे यही ठहरा कि यदि मालिक छुट्टी दे दे तो स्मृतिज्ञान साथ जायँगे।

मालिक ने अकेले मे पूछने पर कहा—"नही, कु-शो-ला, आप बड़े है, हम पर दया कीजिए। ने-ला हमारा बड़ा अच्छा नौकर है। उसके बिना हमारे घर का काम नहीं चल सकता। उसे पण्डित और महात्मा बनाकर हमसे मत छीनिए। आपको ऐसे दूसरे नौकर मिल सकते हैं।"

स्मृतिज्ञानकीर्त्ति के जीवन-लेखकों ने लिखा है कि चे-से-चब् के बहुत कहने पर भी स्मृतिज्ञान को उनका मालिक देने पर राजी नहीं हुआ। अंत मे इस तरह काम बनता न देख वे अपनी दिव्य शक्ति दिखलाने पर मजबूर हुए। देखते-देखते ता नग् का आकाश-मंडल मेघाच्छन्न हो गया। घनघोर वर्षा होने लगी। ब्रह्मपुत्र की धार बढकर गाँव के पास तक आ गई। चे-से-चब् ने पूछा—"गाँव को डुबाना चाहते हो या भारतीय महात्मा को ले जाने की हमे अनुमति देते हो?"

अंत में बेचारे को हाँ करना पड़ा। स्मृति ने फिर चे-से-चब् के लाये भिक्षुओं के वस्त्र को पहना। घरवालो ने अपने अपराधों के लिए बार-बार क्षमा माँगी। और एक दिन सबेरे अपने आठ वर्ष के निवास और उसके निवासियों की ओर हसरतभरी निगाह से देखते स्मृतिज्ञान चे-से-चब् के साथ चल दिये।*

*सन् १०३० ईसवी के आस पास की बात है। तिब्बत का लो च वा (दुभाषिया पण्डित) पद्मरुचि अनुवाद कार्य के लिए स्मृतिज्ञान-कीर्ति और सूक्ष्मदीर्घ दो भारतीय पण्डितों को ले जा रहा था। नेपाल में जाने पर लो च वा मर गया। उस समय दोनों पंडित भोट भाषा से

अनभिज्ञ थे, तो भी पीछे लौटने की अपेक्षा उन्होंने भोट जाना ही अच्छा समझा। नेपाल से केरोड और तिङरि के वास्ते वे उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पीछे सस्क्य का महान् मठ स्थापित हुआ। रास्ते भर दोनों साथी अपने भविष्य प्रोग्राम पर बात करते आ रहे थे। सस्क्य के आस पास ही कहीं स्मृति ने अपना निर्णय सुनाया। तीन दिन और चलने पर दोनों शब्-स्थान पर पहुँचे। स्मृति यहाँ भेंड़ चराने लगे और सूक्ष्मदीर्घ शिगर वे होते रोङ्-स्थान में जाकर किसी को पढ़ाने लगे। पीछे प्रधान रास्ते पर होने से स्मृतिज्ञान को शब्-स्थान पसन्द नहीं आया और थोड़े ही दिनों के बाद वे उसे छोड़ शिगर्-चे पहुँचे। फिर अपने अनुकूल स्थान की तलाश में दो दिन के रास्ते पर ब्रह्मपुत्र की बाईं तरफ अवस्थित तानग् गाँव में पहुँचे। यहीं वे आठ वर्ष तक चर-वाही करते रहे। आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (९८२-१०५४ ई०) ने भोट देश जाते वक्त स्मृति के वहाँ जाने की बात सुनकर कहा—"स्मृति ज्ञान जैसा पंडित पूर्वपश्चिम सारे भारत में नहीं है। उनके तिब्बत जाने पर मुझे क्यों ले जाते हो!" भोट में पहुँचने पर उन्होंने कई बार स्मृतिज्ञान का पता लगाना चाहा। जब उन्होंने स्मृतिज्ञान के तानग के जीवन की दुखमय कहानी सुनी तब उनकी आँखों में आँसू आ गये।

चे-से-चब् के साथ जाकर स्मृतिज्ञान कितने ही समय तक उसे पढ़ाते रहे। फिर वहाँ से वे रोङ्-डोर्-सुम्रिग् गये। बाद में खम् प्रदेश के दन्-कूलोङ्-थङ्-में रह उन्होंने बहुत से संस्कृत ग्रंथों का भोट भाषा में अनुवाद किया, और कुछ अपने भी ग्रन्थ बनाये। भारतीय पंडितों में तेरहवीं शताब्दी के प्रथम पाद के आचार्य विभूतिचन्द्र (जगत्तला) को छोड़कर यही एक पंडित थे जिनका भोट भाषा पर इतना अधिकार था कि बिना लोचवा (दुभाषिया) के भी अनुवाद कर सकते थे।

खम् प्रदेश (पूर्वीय तिब्बत) के एक स्तूप में अब भी स्मृतिज्ञान का मृत शरीर रक्खा हुआ है।

६

जैसिरी

(प्रतिभा जिसके रास्ते सभी बन्द थे)

जैसिरी का गाँव पनव्हा, बहुत छोटा गाँव था। किसी समय उसके पास जंगल था। किन्तु अब नाम-मात्र का थोड़ा-सा हिस्सा बच-बचा पाया था, और वह भी दूसरे गाँववालों की सीमा के भीतर था। पनव्हा की सारी जमीन खेत बन चुकी थी, लेकिन तब भी वह गाँव के सब मुखों में अनाज डालने के लिए पर्याप्त न थी। धनी तो वहाँ कोई था ही नहीं, खाने पीने वाले घर भी चार-पाँच से ज्यादा न थे और वह भी पनव्हा के भरोसे नहीं। उनका गुजर-बसर तो कलकत्ते की कमाई पर था। जैसिरी के मा-बाप गाँव के सबसे गरीब आदमियों में थे। गरीबी ही के कारण उनके एक बूढ़े चाचा जिन्दगी भर कारे रह गये। जैसिरी की भी शादी शायद होती क्योंकि वे घर के बड़े लड़के थे, लेकिन लड़कपन में ही चेचक से उनकी एक आँख के चले जाने के कारण उसकी आशा जाती रही। घर में एक भाई की शादी हुई थी और वंश चलाने के लिए वह काफी थी।

पनदहा ब्राह्मणों का गाँव था, लेकिन ऐसे ब्राह्मणों का जिन्होंने पीढ़ियों से अक्षर-ज्ञान के खिलाफ शपथ खा ली थी। अगर एक-आध आदमी रामायण पढ़ भी लेते थे तो वे भी जैसिरी की पट्टी में न थे। सत्यनारायण की कथा गाँव में, साल भर में, दस-पाँच बार हो जाया करती थी, क्योंकि उसमें खर्च कम और

पुण्य अधिक था। हैजा या चेचक का डर होने पर एक आध बार दुर्गा-पाठ भी हो जाया करता था। लेकिन वह पारायण होता था, और भाषा से अर्थ न करने से गाँव के और आदमियो की भाँति जैसिरी को भी उसका अर्थ नही मालूम होता था। वाल्मीकि रामायण और भागवत की कथा खर्चीली चीजे थी, पनदहा मे उसकी दान दक्षिणा के लिए किसी में शक्ति न थी। तो भी एक-आध बार कम-से-कम भागवत की कथा हुई जरूर होगी, क्योंकि जैसिरी को कृष्ण और कस की, परीक्षित और तक्षक की कथाये याद थी। किसी पाठशाला के न रहने और गाँव मे शिक्षितों के न होने पर भी, मौखिक शिक्षा के लिए जैसिरी को यही अवसर मिला था या यो कहिए कि थोडी-सी भी सुनी बात से गुनकर वे बहुत अर्थ निकाल लिया करते थे। तभी तो चवालीस वर्ष की उम्र मे उनको देखकर कोई भी आदमी उनके सस्कृत मस्तिष्क को पहचाने बिना नही रहता।

होश सँभालने के साथ ही जैसिरी को चरवाही का काम मिला था। दो चार गाये और एक-दो भैसे, यही उनके पास चराने को थी। थोडा और सयाना होने पर चार पाँच घटा घास काटने के लिए भी उन्हे देना पडता था और जब हाथो मे कुदाल उठाने की ताकत आई तो खेत पर भी घरवालो की मदद करनी पडती। देहात के और गाँवो की तरह पनदहा में भी चरवाही लडको का काम समझा जाता था, लेकिन जैसिरी चालीस वर्ष से ऊपर पहुँच जाने पर भी नियम से रोज गायो को चराने ले जाया करते थे। वैसे तो उनका शरीर दुबला-पतला था, लेकिन वह कमजोर न था।। हड्डियाँ काफी मजबूत थी। तेज चलने मे गाँव भर मे कोई उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। बीमारी उनके पास फटकती न थी। फिर भी घरवाले क्यों चरवाही के लिए राजी हुए? जान

पडता ह नैमिरी का खुद का आग्रह इसमे कारण था। गाँववालो के पास काम भी बहुत होता है और छुट्टी का समय भी। लेकिन उनके छुट्टी के समय के बिताने के तरीके सभी श्लाघ्य नहीं हैं। बाज वक्त जमा होकर मडली मे उडती बात म एक झूठ की जगह सात झूठ जोडकर दोहराया जाता था। बाज वक्त गाँव के हर एक आदमी की जब शिकायत शुरू हो जाती तो कोई आदमी न बच पाता था। और शिकायत भी ऐसे कड़े शब्दो म कि दूसरे ही दिन, एक कान से दूसरे कान मे होते-होते दोनो ओर से लाठिया निकल जाती थीं। अकसर गाली-गलौज और बीच-बिचाव से काम चल जाता था, किन्तु कितनी ही बार दोना ओर की कुछ खोपडियाँ लाल हुये बिना नहा रहती थी। ऐसी कथा-मण्डली जेसिरी जैसे आदमी को पसद न हो सकती थी और कभी भी उन्हे ऐसी मण्डली में बैठा देखा नहीं गया। मण्डली मे बैठने से उनको घृणा थी यह भी नही कहा जा सकता था। ढोल-झाझ के साथ रामायण गाये जाते वक्त अवश्य वे दिखाई नही पडते थे, लेकिन अर्थ के साथ चौपाई जहाँ चलती थी, जैसिरी वहाँ जरूर मौजूद रहते—यदि वे चरवाही मे चले न गये होते। बहुधा अर्थ करने का काम उन्हीं के जिम्मे रहता था। अक्षर का उन्हे बिल्कुल ज्ञान न था, लेकिन चौपाइयो का जो अर्थ वे करते थे उसको सुनकर आदमी को दङ्ग रह जाना पडता था। लेकिन दङ्ग होने की जरूरत नही। जैमिरी अक्षर से परिचित न होने पर भी बहुश्रुत थे या जो कुछ सुनते थे उसे गुनते थे और याद रखते थे।

जेसिरी को गीत-गोविन्द और विनयपत्रिका के कितने ही पद भी याद थे। विनयपत्रिका के पदा को बहुत कुछ समझ भी लेते थे, लेकिन गीत-गोविन्द के पद का वे नहा समझते थे, और उनके संस्कृत के भ्रष्ट उच्चारण को सुनकर तो कोई नवागत पण्डित

झल्लाकर बोल उठता—"काने ने क्या बकबक कर रक्खी है।" पनदहा और गीत-गोविन्द तथा विनयपत्रिका ? हाँ, ये सम्भव नहीं थे, लेकिन लगन के समय हर साल पनदहा में पाँच-दस बरातें आ जाती थीं जिनमें नाच भी होती थी। जैसिरी नाच के शौकीन न थे, लेकिन जब उन्हें मालूम होता कि कोई नाचनेवाला लड़का गीत-गोविन्द और विनयपत्रिका के पद गाता है, तो वे उसमें बराबर मौजूद रहते थे और जो दो-चार पद उन्हें याद थे, उन्हें उन्होंने इन्हीं बारातों में सीखा।

जैसिरी का घर अत्यंत गरीब था, लेकिन उनको देखकर कोई वैसा समझ नहीं सकता था। वे अपनी धोती बराबर साफ रखते। फटी होने पर भी सिलाई ऐसी करके रखते थे कि कोई पहचान न सकता था। हाँ, वे अपनी धोती घुटनों के नीचे नहीं जाने देते थे। धोती के अतिरिक्त बदन पर एक दो गज का अँगौछा होता था और वह भी वैसा ही साफ होता था जैसी धोती। पनदहा के आस-पास ऊसर नहीं था, जिससे कि उन्हें सज्जी या रेह मिल जाती। साबुन का उस समय (१६०४) तक सर्वत्र प्रचार नहीं हुआ था और अगर प्रचार होता भी तो उनके पास खरीदने के लिए पैसे कहाँ ?

धोती-अँगौछा के अतिरिक्त बरसात में उनके पैरों में बद्धीदार खड़ाऊँ (पौआ) होती थी। वर्षा से बचने के लिये एक बाँस का छत्ता जिसमें दो हाथ बाँस का मोटा डंडा रहता था। पानी रोकने के लिए छत्ते का ऊपरी भाग बारीक बाँस की बुनाई का होता था और निचला भाग कुछ मोटी तीलियों के चारखाने का। दोनों परतों के बीच में पलास के पत्तों की तहें ऐसी जमाई गई होतीं कि कितना ही पानी बरसने पर भी एक भी बूँद भीतर नहीं जा सकती थी। जैसिरी के लिए वह छत्ता सिर्फ वर्षा रोकने के लिए ही न

था, बल्कि उसका जमीन से थोडा ऊपर उठा डडा तानपूरे का काम देता था। यदि किसी सावन-भादो के महीने मे पनदहा के पूर्वोत्तरवाले बचे-खुचे जङ्गल या परती भूमि पर कोई आदमी अचानक निकल पडता और यदि वहाँ उसे जहाँ-तहाँ बिखरी हुई पचास साठ गाये-भैसे दीख पडती, तो उसे यह पता लगाने मे मुश्किल न होता कि वह जैमिरी और उनके वाल-गोपालो के पास पहुँच गया है। यदि कहीं उस समय आकाश मे नीले-नीले बादल होते तो हलकी हवा के झोंके मे पूरब से पश्चिम की ओर चलते दिखलाई पडते। उस वन की बिखरी हुई पलास की हरी-हरी झाडिया, और लबालब भरे उबरा (पलवा) तथा क्षितिज तक फैले हुए शात और मनोहर भू-भाग को देखकर यदि उसके हृदय मे रसिकता का भाव उदय हो आता तो उसे अपार आनन्द होता यदि उसी समय वह जैमिरी की मण्डली को ढूँढने निकल पडता। उसे उसके लिए बहुत दूर नहीं जाना पडता। उस हरे-भरे मैदान की सबसे ऊँची जगह—ऐसी ऊँची जगह जहाँ से पानी बरसने के साथ ढरक जाता हो और जहा से बिखरी हुई गायो पर निगाह रक्खी जा सकती हो—की तरफ यदि निगाह डालता, पर बीच मे बाँस का एक छत्ता दिखाई पडता। उसके चारो ओर घेरकर बैठी हुई दस-बारह नन्ही-नन्ही मूर्तियाँ होती। नजदीक पहुँचने पर उसे मालूम होता कि छत्ते के नीचे एक अधेड आदमी उकडूँ बैठा है। उसने अपने घुटनो और कमर को घेर कर अँगोछे से बाँध लिया है। कोई ताज्जुब नहीं कि छत्ते के डडे पर ताल देकर उस वक्त "सिरिपति कमलाकात" गाया जा रहा हो। यद्यपि उन श्रोताओ के लिये जिनमे सबसे बडे की उम्र बारह-तेरह से अधिक न रही होगी, यह गाना अजीब-सा मालूम होता और दर्शक को यह देखकर और भी आश्चर्य होता कि सभी शात हैं, कोई आपस मे

काना-फूसी तक नहीं कर रहा है। इसके लिए आश्चर्य करने की आवश्यकता नही। न श्रोतृ मडली गाने के एक-एक शब्द को समझ रही है, न वह गायक के स्वर पर मुग्ध है। बात यह है कि जैसिरी और उनकी श्रोतृ-मडली एक-दूसरे के दिल का बहुत खयाल रखती है। वह भले प्रकार जानती है, कि कभी-कभी उनके मनोरञ्जन का विषय अलग-अलग भी हो सकता है और जब सम्मिलित मनोरञ्जन के समय थोडा धैर्य से काम लेना चाहिए। बालमडली अच्छी तरह जानती है कि "सिरिपति कमलाकात" घटों नहीं होता रहेगा। और उसके खतम होने के साथ ही वह अपनी मनचाही बात सुनेगी।

आठ से तेरह बरस आयुवाली पलटन के ऊपर अनुशासन करना साधारण काम नहीं है। बडे-बडे नीतिकार भी इनके मामले मे इतने निराश हुये कि उन्होने पाँच से पन्द्रह वर्षवालो के लिए 'दश वर्षाणि ताडयेत्' कह दिया। जैसिरी ने लडकपन ही से चरवाही शुरू की थी। ।और अब उनकी आयु ४४ वर्ष की होगी। २८ वर्षों से तो वे पनदहा के चरवाहो क सर्वमान्य नेता होते आ रहे हैं। चरवाहों की कितनी ही टुकडियाँ अपने चरवाही जीवन को समाप्त कर किसान बन गई और उनकी जगह पर लगातार कितने नये चेहरे आते गये, लकिन जैसिरी का प्रभाव अक्षुण्ण रहा। जैसिरी का हुक्म मानने मे कभी किसी ने आनाकानी नही की। मारने की तो बात ही क्या, उन्होने कभी किसी को डॉटकर भी कुछ नहीं कहा। लडको के मनोरजन के लिए जैसिरी के पास छक्कडो भरी कहानियाँ—सुनने की भी पहेलिया और हँसाने के किस्से भी—थी। एक दो वर्ष तक तो वे लगातार नई कहानियाँ सुना सकते थे और उनके कहने का ढग ऐसा था कि पुरानी कहानी भी लडको को नई मालूम होती थी। उनकी हँसानेवाली

कहानिया तो ऐसी चित्ताकर्षक होती थी कि लडके दिन मे चार-चार बार उसी का दोहराने को कहते थे, और सुनकर लोट-पोट हो जाते थे। जैसिरी लडको के मन और उनके भुकाव के सबध मे रत्ती-रत्ती जानते थे। वे जानते थे कि लडको को खुश करना जैसा आसान है, उसी तरह जरा-सी गलती से वे नाराज भी किये जा सकते हैं। कहानी के बीच मे कभी वे किसी गाय को खेत या गाँव की ओर जाते देख लेते तो उस समय मामला बडा बेढब हो जाता। साधारण स्थिति मे ऐसे समय कोई लडका कहानी छोड़कर गाय लौटाने के लिये जाने को तैयार न होता, लेकिन जहाँ जैसिरी एक पतली-सी हँसी की रेखा अपने मुँह पर लाकर कहते—"मगरू, बच्चा, जाओ तो गाय लौटा लाओ" तो उसी वक्त वह लडका दौड जाता। हा, वह लौटकर आने के लिये भी उतनी ही जल्दी करता। वह जानता था कि कथा तब तक वहीं रुकी रहेगी जब तक वह लौट नहीं आयेगा, और उसे यह भी विश्वास था कि काम देने मे जैसिरी चाचा सबको एक निगाह से देखते हैं। इस बीच के समय मे जैसिरी मडली मे रसभग भी नहीं होने देते थे। वे बीच मे कोई ऐसा चुटकुला छोड देते कि उतने मे वह लडका भी आ जाता।

अपरिचित आदमी को जैसिरी बहुत चुप्पे मालूम होते थे। मितभाषी वे जरूर थे। लेकिन उनके पास वाणी की शक्ति पर्याप्त थी। जहाँ बोलने की आवश्यकता होती, वे खूब बोलते थे। जिस विषय को वे हानिकारक समझते, उस पर मौन जरूर रहते, और जिस मडली मे लोग होड लगाकर बात करने मे एक-दूसरे से बाजी मार ले जाना चाहते थे, वहाँ भी जैसिरी मुँह खोलने की आवश्यकता न समझते थे। लडको से उनका अपार स्नेह था। उनसे बात करने मे उन्हे आनन्द आता था। इसमे कोई शक

नही कि पनदहा ऐसे गाँव मे जहाँ अक्षरज्ञान से लोगो को सरोकार न था, बालको के लिए जैसिरी की सगति खुली हुई पाठशाला थी। उनकी कहानियो और गीतो से उनको बहुत शिक्षा मिलती थी।

वर्षा और ऋतु के सबध की पचासो लोकोक्तियाँ उन्हे याद था जिनमे घाघ की सूक्तियाँ भी शामिल थी। बादल, हवा, चींटी और फतिंगे को वे देखकर बतला देते थे कि वर्षा होनेवाली है या सूखा और ऐसा अवसर शायद ही आता था जब कि उनकी बाते गलत होती थीं।

चरागाह के अतिरिक्त एक और भी स्थान था जहा लोगो को जैसिरी की मीठी बातों के सुनने का अवसर मिलता था और यह था कुल्हाड। उस समय और जगहों की तरह पनदहा के भी सभी कोल्हू पत्थर के थे। उनकी दस-दस, बारह-बारह गज लम्बी जाठ (यष्टि) इतनी भारी होती थी कि कोल्हू की बुलाई के वक्त आठ-दस आदमियो के बिना काम नहीं चल सकता था। इसीलिए चार-पॉच दूसरे घरो को सम्मिलित किये बिना अकेले किसी घर के लिए एक कुल्हाड चलाना असम्भव था। जैसिरी का घर जिस कुल्हाड में शामिल होता उसके कार्यकर्त्ताओ और आसपास के लडको का तो भाग्य खुल जाता। जैसिरी कातर पर बैठकर बैलो के हाँकने के काम को काहिलो और कमजोरो का काम समझते। कम्बल की घोघी ओढे, कोल्हू की परिक्रमा करते घानी चलाना उन्हें बहुत पसन्द था। यद्यपि इसमे पैरो और हाथो को मिहनत और सर्दी दोना से तकलीफ होती थी। कुल्हाडो मे कभी-कभी श्रोता—जिनमे कितने ही उनके पुराने शिष्य भी होते—आधीरात तक आग तापते रहते, इस प्रतीक्षा मे कि घानी समाप्त होने पर जैसिरी आग के किनारे बैठकर कथा सुनायेगे। इस वक्त की कथा

मे ताराओं का भाग काफी रहता था। शरद्काल के स्वच्छ आकाश मे मोती की तरह बिखरे हुए इन अगणित शुभ्र तारों को देखकर वैसा होना जरूरी था। सप्तर्षि जैसे कुछ तारा को छोडकर बाकी सभी तारों के ऐसे नाम होते थे जिनका किताबों मे पता मिलना मुश्किल था। हर एक तारो के कुण्ड के इतिहास के बारे मे कितनी ही कथाएँ उनको याद थीं। चर्खा चलानेवाली बुढिया कैसे वहाँ पहुँची? मृगशीर्ष के खटोले को कौन लोग लिये जा रहे हैं? वशिष्ठ और अरुन्धती कैसे सप्तर्षि मडल मे पहुँचे? चद्रमा की प्रिया रोहिणी क्या लाल है? लोधवा (लुब्धक) क्या इतना चमकता है? उनका खगोल का ज्ञान कथाओं तक ही सीमित न था। उस पुरानी कुल्हाड की सस्था मे आधीरात (जिसे जैसिरी के प्रदेश की भाषा मे परेव कहते थे) का ठीक समय जानने की बडी आवश्यकता थी। कार्यकर्त्ताओं की बदली का यही समय था। इसके लिए हमेशा जैसिरी ही पूछे जाते थे। जैसिरी जानते थे कि जाडे के किस महीने मे कौन तारा रात के बारह बजे ठीक सिर के ऊपर आता है। इसके सम्बन्ध मे घाघ की कुछ सूक्तिया उन्हे कण्ठस्थ थी।

रात के वक्त बहुधा गाँव और रास्ते के भूतों और चुडैलों की कथा निकल आती थी। भूत-प्रेत नही है—यह तो जैसिरी नही कह सकते थे, क्योंकि जो भी बडा से बडा ज्ञान लडकपन से अब तक उन्होंने पाया था, सभी भूतों प्रेतो की सचाई के पोषक थे। हाँ जैसिरी भूतो से उतना डरते नही थे। गाँव मे आधा मील पर, सुनसान जगह मे, एक ठूँठा पीपल का लम्बा वृक्ष था। दोपहर और सूर्यास्त के वक्त भी लोग अकेले दुकेले उसके पास से गुजरने की हिम्मत न रखते थे। आसपास के मील-दो-मील के भूतों का राजा उस वृक्ष पर रहता था। किसी की हिम्मत की परीक्षा लेनी

होती तो लोग उसी ठूँठे पीपल मे पत्ता तोडकर लाने की शर्त पेश करते। मालम नहीं कि कभी किसी ने जेमिरी के सामने यह शर्त पेश की, लेकिन यदि कोई ऐसी शर्त करता तो इसमे शक नहीं कि जैमिरी आधी रात को भी जाकर, पत्ता तोड लाते। हो सकता है, वे यह सब हनुमानजी के नाम के बल पर करते, लेकिन इसमे तो सदेह नहीं कि वे दिल के बहुत मजबूत थे। घानी खतम होने से पहले नो-मील चलकर लौट आने की परीक्षा तो उन्होंने एक से अधिक बार पास कर ली थी।

जैमिरी कुछ मत्र भी जानते थे। शरीर पर चित्तियाँ पड जाती, इसे लोग साँप के जूठे पानी पीने के कारण बतलाते थे। बहुत-से आदमी जैसिरी के पास भाड-फूँक के लिए आते थे। इसमे तो उनकी ख्याति इतनी थी कि कई मील तक के लोग पास आते थे। वे आदमी की पीठ पर सफेद काँसे (फूल) की थाली रख देते। मत्र बल या शरीर के जहर अथवा पसीने से, थाली पीठ पर चिपक जाती। इसके बाद मत्र पढ-पढ कर शुद्ध मिट्टी की छोटी-डलियाँ को वे उस पर फेंकते। यह क्रिया तब तक जारी रहती जब तक कि थाली खुद जमीन पर गिर न पडती। शायद इसके लिए उन्होने इतवार या मगल का दिन भी नियत कर रक्खा था। लोगो का विश्वास था कि दो-चार बार के भाडने से साँप के जूठ का जहर निकल जाता है। शायद वे साँप काटने को भी भाडते थे। आँख के पीलिया (कामला) रोग पर भी उनका मत्र खूब चलता था। सभी रोगियों को इससे फायदा होता था, यह तो नही कहा जा सकता, किंतु एक बात तो प्रत्यक्ष देखने मे आती थी। थाली मे पानी रखकर रोगी के दोनो हाथा मे उसमे रखजा जब वे अपने दोनो हाथा से भाडने लगते थे, तो थोडी देर मे सारा पानी पीला हो जाता था। सम्भव है कि वे अपनी अँगुलियो मे कोई पीला

रङ्ग की जड़ी लगाकर झाड़ते थे। इन चिकित्साओं के लिए वे एक पैसा भी किसी से न लेते थे।

जैसिरी इतने मधुर-भाषी थे और निन्दा-शिकायत से इतनी दूर रहते थे कि पनदहा मे उनका कोई शत्रु न था। गाँवों के स्वभाव के अनुसार उनके घर की भी बोलचाल किसी न किसी घर से बराबर बद रहती थी, लेकिन जैसिरी के लिए सबका मुँह खुला रहता था और सभी जगह स्वागत का शब्द तैयार था। गाँव मे अपनी धार्मिकता और भक्तिभाव दिखाने के लिए कितने ही लोग रुद्राक्ष की माला या तुलसी की कठी धारण करते थे, कितने ही तिलक और चदन लगाते थे। जैसिरी धार्मिक थे, लेकिन उनके पास धर्म के ये बाह्य चिह्न बिलकुल न थे। वस्तुत जैसिरी जन्म-जात दार्शनिक थे। जैसिरी का जन्म यदि तीन हजार वर्ष पहले हुआ होता तो उनकी सूक्तियाँ मत्रो और उपनिषदो मे जमा होकर श्रुति समझी जातीं और उनका नाम ऋषियो की परम्परा में अकित होता। यदि वे अपने समय मे, किंतु ऐसे घर और परि-स्थिति में पैदा होते जहाँ उन्हे आधुनिक शिक्षा के सभी साधन सुलभ होते, तो वे अपने समय के सबसे बड़े शिक्षा-सबधी विशेषज्ञ बनते।

७

राजबली

(अभागा बालक)

राजबली के पिता बहुत गरीब थे। जवानी के बीत जाने पर मोल लेकर उन्होने एक लडकी से शादी की। उनके तीन बच्चे हो पाये थे कि वे मर गये। बच्चों मे राजबली से बडी दो बहिने थी। लड़की भी शायद शादी के क़र्ज के अदा करने के लिए किसी दूसरे अधेड पुरुष के हाथ बेच दी गई। राजबली और उनकी मा अब भी अपने गॉव मे रहते थे। कुछ वर्षों तक मॉ ने किसी तरह गुजारा किया, लेकिन आधे बालू, आधे मिट्टीवाले एक एकड खेत मे उनका गुजारा चलना मुश्किल था। आखिर तङ्ग आकर मॉ लड़के को ले अपने दामाद के पास चली गई। दामाद के घर जाकर सास का रहना बडी शर्म की बात है, लेकिन और दूसरा चारा ही क्या था? घर छोडते वक्त राजबली की उम्र ५-६ वर्ष से अधिक न होगी। दामाद भी कोई धनी न था और उस पर उसका घर निरे देहात मे न था। सास और साले की, कुछ दिनो तक खातिर जरूर की गई, लेकिन पीछे भाव बदल गया। राजबली यद्यपि अभी बच्चा था, लेकिन उससे अपनी शक्ति से बाहर काम लिया जाता था। न कर सकने पर गाली और मार पडती थी। थोड़ा और बड़ा होने पर लड़का समझने लगा कि उसका गॉव कहीं दूसरी जगह है। उसकी मॉ वहॉ से आकर दामाद के पास

रहने लगी है। लड़कों से झगड़ा होने पर वे भी कभी कभी ताना दे देते थे। वर्ष के अधिकांश दिन राजबली को आधा पेट खाकर ही बिताने पड़ते थे।

राजबली अब १३-१४ वर्ष का हो गया था। लड़कपन से अपमान सहते-सहते यद्यपि उसका दिल पत्थर-सा हो गया था, लेकिन इसके साथ कभी भूख का शान्त न होना, उसके मन को सोचने पर मजबूर करता था। उसने ख्याल किया कि यहां मार-पीट खाकर भूखे रहने से अपने घर चला जाना अच्छा है। संभव है कि उसने अपनी माँ से भी इसके बारे में कहा हो, किन्तु मा घर लौटने को तैयार न थी। राजबली का घर यद्यपि १०-१२ मील से अधिक दूर नहीं था, तो भी महीनों वह अपने पड़ोसियों से अपने घर के बारे में तथ्यपिक्त करता रहा।

❀ ❀ ❀

राजबली एक दिन गुम हो गया। माँ और बहनोई ने तलाश की। शायद यह तलाश दिल से नहीं हो रही थी क्योंकि राजबली को ढूंढने को कोई उसके गाँव पर नहीं गया। राजबली के लिए १०-१२ मील की यात्रा भी आसान न थी। उसे मालूम था कि उसका गाव रानी की सराय के करीब है। रानी की सराय का बाजार उसी पक्की सड़क पर था जिस पर उसके बहनोई का गाँव था। रानी की सराय से राजबली का गाँव एक ही मील था। इस प्रकार राजबली को अपने गाँव में पहुँचने में मुश्किल न हुई। क्वार का महीना था। सड़क के किनारे की पोखरी पर गाँव के कुछ लोग सन धो रहे थे और कुछ सन को सन्ठे से अलग कर रहे थे। लोगों ने देखा एक पतला-दुबला लड़का है, जिसकी ठठरी की हड्डियाँ एक-एक कर गिनी जा सकती है, हाथ और पैर सूखकर लकड़ी-से हो गये हैं, सारे शरीर में अगर कोई चीज बड़ी मालूम

होती है तो वह है लम्बा पेट। कमर में एक मैली कुचैली लँगोटी और कधे पर एक फटा पुराना अँगोछा। लड़के ने आकर लोगो से अपने बाप का नाम लेकर घर पूछा। लेकिन उसका घर तो कब का गिर चुका था। पूछने पर उसने अपनी सारी दुःखगाथा सुना दी। कैसे उसकी मा उसे लेकर दामाद के यहाँ भाग गई थी। कैसे उसे इतने दिनों तक नरक का जीवन बिताना पड़ा, और कैसे वह वहाँ से यहा भाग कर चला आया। राजबली को भूखा देखकर किसी ने थोड़ा चबैना दे दिया। एक गिलास पानी पीने पर उसका चित्त कुछ ठंढा हुआ। लेकिन अब उसके सामने बड़ी समस्या थी—किसके घर जाये। वहाँ बैठे लोग भी इस बात को समझते थे। एक ने कहा— "तो लड़का कहाँ जाय ?"

दूसरा—"क्यो ? चचेरे भाई लोगो को इन्तजाम करना चाहिए। आखिर इसका खेत भी तो यही लोग जोत रहे हैं।"

तीसरा—"हाँ, वे इतने गरीब भी तो नहीं हैं।"

पहला—"तो उन्हें बुलाकर कहना चाहिए कि तीनो भाई लड़के को बारी-बारी से अपने घर रखे।"

सब लोग इस राय पर सहमत थे। राजबली के तीनो चचेरे भाइयों को पञ्चा की बाते माननी पड़ी। राजबली के रहने की बारी पहले जेठे भाई के यहाँ हुई। उनका परिवार बड़ा था। घर में पाँच लड़के और उतनी ही बहुएँ थीं। राजबली के भाई और भावज भी मौजूद थे। एक-आध दिन हर एक नवागन्तुक के साथ मेहमानी चलती है। राजबली के साथ भी वैसी ही हुई। अब राजबली घर का बिना खरीदा दास था। गाय-भैंस चराना राजबली खुद पसन्द करता था। वहाँ उसे लड़को के साथ खेलने को भी मिलता था। घर की चढी त्योरियों से भी वहाँ उसकी जान बचती थी, लेकिन राजबली के जिम्मे तो और दूसरे काम थे। सूरज उगने

के पहले ही उसे जागना पडता था। रात को देर से सोने के कारण सबेरे की ठंडी हवा से यदि उसकी नींद न खुलती तो सबेरे ही सबेरे उसे पचास बातें सुननी पडती। उसे गोबर हटाना पडता, फिर सारी गोसार और आँगन में झाड़ू लगाने का काम भी उसी को करना पडता। बच्चों के खा लेने पर कुछ जूठे सूखे टुकड़े उसे भी मिल जाते थे। दिन में कभी वह घास काटने जाता था और कभी ढोर चराने। शाम को पचीसों घडे पानी भरकर बैलों को सानी देनी पडती थी, और फिर उसके बाद एक न एक छोटे-मोटे काम ग्यारह बारह बजे रात तक उसके लगे ही रहते थे।

पन्द्रह दिन बीतने के बाद राजबली मॅझले भाई के घर में चला जाता था। वहाँ भी उसकी दिनचर्या करीब-करीब ऐसी ही थी। हाँ, मॅझले भाई के घर में सब मिलाकर दो ही तीन आदमी थे। इसलिए अलग-अलग आदमियों की फरमाइश कुछ कम थी। बारी बदलते वक्त राजबली की फटी लगोटी भर उसके साथ एक घर से दूसरे घर जाती। उसके लिए बनी सड़े चीथड़ों की गूदडी दूसरी बार के लिए सम्भाल कर रख दी जाती थी। राजबली की माँ जवानी में ही घर छोडकर दामाद के यहाँ चली गई थी। इसके लिए गाव में तरह-तरह की अफवाहें फैली हुई थीं। कुछ लोग उसके चाल-चलन पर सन्देह करते थे। इसका फल बेचारे राजबली को भी भोगना पडता था। राजबली को चौके के भीतर जाने की आज्ञा न थी। उसका छुआ पानी पीने में भी परहेज किया जाता था। राजबली इन बातों को देखता था और इनके मतलब को भी समझता था। बहनोई के यहाँ से निराश होकर वह यहाँ आया था। उसने समझा था कि स्थान बदलने से शायद किस्मत में भी कुछ हेरफेर हो जाय, लेकिन यहाँ भी उस छोटी उम्र में उसे दिन-रात काम की चक्की में पिसना पडता था। पन्द्रह-पन्द्रह दिन की

तबदीली उसे ढाढस जरूर बँधाती थी। नये घर मे दो-चार दिन कुछ नर्मी का बर्ताव रहता था। बाकी दिनो मे जब कडाई बढती जाती तो वह दिनो को गिनकर नये घर मे जाने की आशा से संतोष कर लेता। उसे यह भी खयाल था कि पाँच सात वर्ष बाद जब वह थोडा सयाना हो जायगा तो अपने बाप के एक एकड खेत का वह मालिक होगा।

राजबली साधारण बुद्धि का लडका था। आत्म-सम्मान का भाव उसमें कितना था यह ठीक से नहीं कहा जा सकता, क्योकि लडकपन ही मे आत्म सम्मान क्या चीज है इसे अनुभव करने का उसे मौका नही मिला। जैसे लोहू और पीब बहते बहते कोढी का घाव सुन्न पड जाता है, वैसे ही शैशव से घात-प्रत्याघात सहते-सहते राजबली का दिल सुन्न हो गया था। उसके दिल से आत्म-सम्मान का भाव मानो जबरदस्ती निकाल दिया गया था। किन्तु वहाँ से उसकी जड तक खोदकर फेंक दी गई थी, यह नहीं कहा जा सकता क्योकि ताना, धिक्कार और फटकार के लिए वह अपने कामो मे अवसर नहीं देना चाहता था। राजबली को रोज ही झिडकियाँ सहनी पडती थी और हर दूसरे तीसरे दो-चार चपत भी खाने पडते थे। उस वक्त वह एक कोने मे जाकर सिसक-सिसक कर रो लेता था। उसके आस-पास सहानुभूति रखनेवाले लोग बहुत कम थे, जो कि उसके आँसुओ को पोछते, उसके मन को ढाढस देते। बहुधा तो उसे रोने के लिए भी फुरसत न मिलती थी। काम करते करते वह अपने आँसुओ को खाली कर देता और फिर आँखे खुद सूख जाती थीं। राजबली का रंग गोरा था। उसके मुँह पर चेचक के दाग जरूर थे, लेकिन वे उसे कुरूप बनाने में सफल नहीं हुए थे। यदि उसे भूखे रहकर शरीर सुखाना न पड़ता और साफ कपड़े लत्ते मिलते तो उसकी गिनती सुन्दर

लड़का मे होती। किन्तु राजबली जिस परिस्थिति में पला था, उसने उसके शरीर और मन दोनों का पीत कर दिया था।

भादों के महीने मे गाव की पोखरियो मे सन डालकर सड़ाया जाता था। उस सड़े दुर्गन्धयुक्त पानी के कारण गाव मे सभी जगह मलेरिया फैल जाता। जाड़ा बुखार राजबली के लिए हर साल की बात थी। किसी साल वह रोजाना आता और किसी साल अँतरा या तिजारी के रूप में। राजबली को अपने कामों में उसी वक्त छुट्टी मिलती थी जब उसकी आंखें कड़े ज्वर के कारण अंगारे की तरह लाल हो जातीं और वह अपनी गुदड़ी ओढ़ धूप मे काँपता रहता। ऐसा बहुत कम होता जब घर का कोई आदमी आकर उसके पास आता। लोग समझ लेते थे कि दो घंटे के बाद जड़ैया खुद उतर जायगी। राजबली को कुनेन भी मुयस्सर न थी। उसे मालूम था कि जड़ैया आते वक्त प्यास बहुत लगती है, और इसके लिए वह अपने पास एक लोटा पानी पहले से ही तैयार रखता था। बुखार उतरते ही उसके सामने फिर वही चक्की। बुखार मे हो या निरोग, उसके लिए वही घर का बचा-खुचा भोजन। पेट भरा होता तो शायद वह उस खाने को न खा सकता किन्तु मिठास तो भूख मे है। और राजबली शायद ऐसे समय को नहीं जानता, जब उसके पेट मे क्षुधा की वेदना न होती हो।

गाँव मे प्लेग का जोर बढा। जाड़ो मे हर साल चूहे मरते थे और लोगों को घर छोड़कर फूस की झोपड़ियों मे डेरा डालना पड़ता था। राजबली भी घरवालो के साथ झोपड़िया मे जाता। लोग गाँव में जाने से डरते थे। उनको एक धुधला-सा ज्ञान था कि घर में जाने से प्लेग लग जायेगा। राजबली को इसकी कोई पर्वा न थी। उसे मृत्यु का डर नहीं था—यह नहीं कहा जा

सकता। वस्तुत उसके मन के लिए मृत्यु न डर की चीज थी और न चाह की। उसने दो वर्षों मे इसी प्लेग से अपनी दो भाभियो को मरते देखा था, किन्तु मरने का उसके दिल पर इससे ज्यादा असर नहीं हुआ कि वह दो परिचित चेहरो को कितने ही दिनो से नही देख रहा है। जिसके दुःख में कभी किसी ने कोई सहायता नहीं दी, जिसे अपने सुख मे कभी किसी ने शरीक नहीं किया, बीमारी मे जिसे अपने भाग्य पर छोड दिया गया, उसके दिल पर दुनिया के मरने-जीने का क्या असर पड़ता ?

कहने को राजबली लडका था। यही उसके लिए हँसने-खेलने की उम्र थी, लेकिन उसका चेहरा हमेशा सूखा रहता था। वैसे तो वह कभी हँसता ही न था, लेकिन यदि हँसता भी था तो सूखी हँसी। किसी भाव को भी खुलकर प्रकट करने का उसे मौका नहीं दिया जाता था। अपने हर एक काम के लिए लोगों से भर्त्सना सहते-सहते, उसे अपना कोई भी काम निरापद नहीं जान पड़ता था। भले काम मे भी उसे घुडकी पाने की शका रहती थी, फिर दिल खोलकर वह अपने भावो को कैसे प्रकट करता ?

वह अपने जीवन से ऊब गया था—यह नहीं कहा जा सकता, क्योकि जीवन और उसकी पहेली क्या है, इसके समझने की उसमे शक्ति न थी। मृत्यु उसे इस नारकीय यातना से मुक्त कर देगी, यह भी उसके विचार के बाहर की बात थी। लेकिन एक बात थी—वह हर एक चीज को नीरस समझता था। घडी के पुर्जों की तरह मन से या बेमन से एक के बाद दूसरे काम मे वह लगा रहता था, लेकिन मन उसका कहीं नहीं लगता था। सभी चीजों से वह उदासीन था। सभी चीजो को वह उपेक्षा की दृष्टि से देखता था।

❀ ❀ ❀

तीन महीने की जड़ैया के बाद राजबली के शरीर मे अभी थोड़ी-थोड़ी ताकत आने ही लगी था, कि गाव मे प्लेग जोर से आ गया। हर साल लोग कहा करते थे,—"इसका बड़ा सख्त जीव है, प्लेग भी इस अभागे को नहा पूछता।" प्लेग भी शायद राजबली को मृत्यु से बदतर उस जीवन मे छुट्टी नही देना चाहता था। राजबली को इस बार पैर म गिल्टी निकल आई। हलका ज्वर भी था, लेकिन, दो-तीन दिन तक उसे अपना काम करते रहना पड़ा। फिर गुदड़ी ओढकर कोदो के पुआल पर वह पड़ रहा। उसे बुखार था, सिर मे दर्द था, लेकिन उसे वह जी कड़ाकर सह लेता था। हाँ, प्यास के मारे पानी न मिलने पर वह तड़प जाता था। जड़ैया की तरह प्लेग मे भी उसे अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया था। दिन मे एकाव बार कोई आकर उसके लोटे मे पानी दे जाता। मौत ने भी उसके ऊपर दया दिखाई और चौथे दिन उसका शरीर उसी गुदड़ी के नीचे ठडा पड़ा मिला। उस वक्त वह मुश्किल से सोलह बरस का हो पाया था। लोगो ने ले जाकर उसे जला दिया, लेकिन उसके लिए किसी की आँखें न तर थीं और न किसी ने उसके लिए अफसोस ही किया।

८

रामगोपाल

(स्वार्थत्याग की मूर्त्ति)

उन दिनों युक्त प्रान्त के एक बड़े शहर में एक छोटा सा विद्यालय था। उसकी स्थापना धर्मप्रचारक तैयार करने के लिए हुई थी। लड़के दस-बारह से अधिक कभी नहीं हुए, जिनमें १६ से कम और २४ वर्ष से ज्यादा का कोई न था। लड़के प्रायः हिन्दी या उर्दू मिडिल तक पढ़े होते थे। प्रान्तों के ख्याल से वे पंजाब और युक्त-प्रान्त, दो प्रान्तों के थे। नई जवानी थी। ऊपर से धर्मप्रचार की धुन थी। जैसे व्याख्यान सुनते थे और जैसी पुस्तकें उन्हें पढ़ने को मिलती थीं, वे सभी उनके हृदय में नई स्फूर्ति और नया जोश पैदा करती थीं। प्राचीन काल के बौद्ध भिक्षुओं की साहसपूर्ण यात्राएँ इन युवकों के हृदयों में नया जीवन डालती थीं। यद्यपि वे भूमि पर थे, और एक खास समय और परिस्थिति से घिरे हुए थे, लेकिन उनके मन की उड़ान आसमान में बहुत दूर तक थी। उनका ज्ञान संकुचित था और कितना संकुचित था इसका भी उन्हें ज्ञान न था, तो भी उनके भविष्य के मनसूबे बहुत बड़े-बड़े थे। साथ रहने से, जैसे अक्सर होता है, इन लड़कों में भी अनबन हो जाती। किन्तु प्रायः वे मेल-जोल से रहते थे। पाठ्य पुस्तकें बहुत अधिक न थीं। हर एक विद्यार्थी को दो धार्मिक भाषायें पढ़नी पड़ती थीं, किन्तु उनके लिए पुस्तकें ४-६ से अधिक न थीं। उन्हें व्याख्यान और बहस करने के लिए

अधिक समय देना पड़ता था। बातचीत और गप्प के लिए भी इतना समय था, कि लड़कों का मन बराबर लगा रहता था। वस्तुत उन्हें विद्यालय के दो वर्ष का समय जाते मालूम न होता था।

एक ही पाठ्य विषय और एक ही लक्ष्य होने पर भी वे अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार दो तीन टुकड़ियों मे बँटे हुए थे। विवाद और प्रतिद्वन्द्विता के लिए नही, बल्कि एक दूसरे के सामने अपने मन के भावों को खोलकर रख देने के लिए। सौभाग्य से वह सस्था एक ऐसे धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध थी जो कुछ हद तक विद्यार्थियो को स्वतन्त्रतापूर्वक सोचने का मौका देता था। उस समय विद्यार्थी पवित्र से पवित्र, कोमल से कोमल सामाजिक धारणाओं पर भी निर्मम और निस्सङ्कोच भाव से आलोचना करते थे। घटों वे अपने जागृत जगत् को छोड स्वप्न जगत् मे चले जाते थे। शेखचिल्ली की भाति वे बड़े-बड़े अपने ख्याली खडे करते थे।

महायुद्ध का आरम्भ था। भारत में राष्ट्रीयता का वेग तीव्र हो चला था और इसका प्रभाव उस छोटे से विद्यालय के अल्प शिक्षित विद्यार्थियों पर भी पडे बिना नही रह सकता था। उनमे से अधिकाश को एक तरह से राष्ट्रीय भाव का क ख यहीं आरम्भ करना पड़ा था। क्रान्तिकारी दल और कांग्रेस दोनों का नाम उनके लिए पहले तो कुतूहल का कारण था किन्तु पीछे उनके सम्बन्ध की अधकचरी बातें भी पास तक पहुँचने लगीं। एक-आध को छोड बाकी सभी विद्यार्थी अँगरेजी भाषा के ज्ञान से वञ्चित थे, और हिन्दी-उर्दू मे राष्ट्रीय-विषय की पुस्तकें उस समय तक बहुत कम लिखी गई थीं। जो लिखी भी गई थी उनमें से भी कितनी ही सरकार ने जब्त कर ली थीं। जब्त होने पर भी पुस्तकें कहीं न कहीं से पढने के लिए मिल जाती थीं। देश के लिए प्राण

देने वाले शहीदों की जीवनियाँ अधिकतर मास्टिक ही सुनने को मिलती थीं। इन सारी बातों का इन विद्यार्थियों पर बहुत असर पड़ा। यद्यपि वह असर सबके लिए स्थायी सिद्ध नहीं हुआ, किन्तु कुछ के जीवन में उसने स्थायी परिवर्तन जरूर किया।

रामगोपाल उसी विद्यालय के एक विद्यार्थी थे। उस वक्त (१९१५) उनकी आयु २३-२४ के करीब होगी। कद में वे नाटे थे, लेकिन बदन गठीला था। जिमनास्टिक की सारी कसरतें वे अच्छी तरह कर लेते थे। बुद्धि में न वे बहुत तीव्र थे और न बहुत मन्द। किन्तु वे मिहनती थे। प्रयाग में वे नार्मल पढ़ने के लिए गये थे वहीं उन्हें आर्य समाज का व्याख्यान सुनने का मौका मिला। उस समय आर्य-समाज का मंच राष्ट्रीयता के प्रचार का भी एक प्रधान साधन बना हुआ था। उसने रामगोपाल के दिल में भी आदर्शवाद का बीज बो दिया। उसके कारण रामगोपाल का मन अध्यापकी से हट गया। उनके मन में देश और धर्म की सेवा करने की इच्छा थी। विवाहित होने पर भी वे अपने को आजाद रखना चाहते थे, लेकिन वे अनुभव करते थे कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उन्हें अभी कुछ और पढ़ना चाहिए। नार्मल पास करने के बाद पता पाकर वे उक्त विद्यालय में चले गये। दो भाषाओं के अतिरिक्त व्याख्यान और बहस के ढंग को सीखना उनका भी पाठ्य विषय रहा। धीरे-धीरे वे अच्छा व्याख्यान देने लगे। व्याख्यान के वक्त उनके स्वर में विषय के अनुसार उतार-चढ़ाव आ जाता था। पहले से सोच लेने पर उनका व्याख्यान काफी प्रभावशाली होता था। बहस में उनकी योग्यता साधारण थी। साथियों के साथ बोलने में उन्हें सङ्कोच न था और सभा में भी वे निधड़क बोल सकते थे, लेकिन अपरिचित व्यक्तियों के सामने वे कम बोलते थे। अपने दूसरे साथियों की तरह रामगोपाल भी गत-

ज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखा करते थे। उन्हीं की तरह वे भी देश और धर्म की सेवा के लिए अपना जीवन अर्पण करना चाहते थे। सभी विद्यार्थी भले प्रकार जानते थे कि दो साल के लिए वन वन के पक्षी एकत्रित हुए हैं, उसके बाद सभी भिन्न-भिन्न दिशाओं में उड़ जायेंगे, लेकिन सभी के लक्ष्य, सभी के स्वप्न समान होने से उनमें एक स्थायी बन्धुत्व स्थापित हो गया था।

❀ ❀ ❀

दो साल का कोर्स समाप्त हो गया। रामगोपाल को अपने कार्यक्षेत्र में अवतीर्ण होने का समय आया। वे विवाहित थे और अपने को स्वतन्त्र करने के लिए उन्होंने यही सोचा था कि स्त्री को कुछ शिक्षा देकर अपने पाँवों पर खड़ा कर दिया जाय। इसीलिए वे अपनी स्वतन्त्रता का ख्याल कुछ देर के लिए भूल जाने को तैयार हुए लेकिन इसके लिए वे अनैतिक काम न कर सकते थे। उन्होंने एक जिले की संस्था के अधीन प्रचारक का काम स्वीकार कर लिया। उनकी सादगी, उनकी लगन और व्याख्यान की निपुणता से लोग बड़े प्रभावित हुए। रामगोपाल की स्त्री अपने बाप के घर रहती थी। उसके बाप और भाई दोनों अध्यापक थे। रामगोपाल के कहने पर पहले से ही बाप ने लड़की को पढ़ाना शुरू कर दिया था।

रामगोपाल के विद्यालय की दुनिया एक तरह से स्वप्न की दुनिया थी, किन्तु अब वे ठोस और जागृत दुनिया में उतरे थे। वहाँ वे समझ रहे थे कि एक मनुष्य को दूसरे का स्वामी बनने का अधिकार नहीं है, लेकिन यहाँ वे देख रहे थे कि जिसके पास रुपया है या जो जाति या पद के कारण ऊँचे स्थान पर बैठा हुआ है, वह चाहता है कि दूसरे उसके आज्ञाकारी बनें। बाहर से न प्रकट करते हुए भी मन में उसकी इच्छा यही रहती है, कि छोटे अदब

सीखे। रामगोपाल निर्भीक थे। परिस्थिति के कारण कुछ दिनों के लिए उन्होंने इस बन्धन को स्वीकार किया था, लेकिन वे आत्म-हत्या के लिए तैयार न थे। वे खुद फतेहपुर के कान्यकुब्ज ब्राह्मणों के घर में पैदा हुए थे, और लड़कपन से उनकी शिक्षा दीक्षा भी उसी सकीर्णता के वातावरण में हुई थी, तो भी प्रयाग के प्रवास और विशेषकर उक्त विद्यालय के दो वर्ष के जीवन से उन्हें जात-पाँत के प्रति घोर विद्रोही बना दिया था। बरसों के विचार-विनिमय ने उन्हें निश्चय करा दिया था कि भारत के पतन का सबसे प्रधान कारण यही जात-पाँत है। वे अपनी संस्था के अधि-कारियों को देखते थे कि वे सभा मंच पर तो चिल्ला चिल्लाकर जिन बातों का खंडन करते हैं दूसरे समय आँख मूँदकर उन्हीं बातों को करते हैं। मामूली मामूली रूढ़ियों को भी तोड़ने की उनमें हिम्मत नहीं। उनके दिल में इसके लिए क्षोभ होता था। जबाब देकर हर एक आदमी से झगड़ा मोल लेना उनके स्वभाव में न था, किन्तु इस प्रकार के सभी सुधारक नेता उनकी दृष्टि में गिरे हुए थे। वे उनके साथ शिष्टाचार का उतना ही बर्ताव करते थे जितना एक सभ्य पुरुष के लिए जरूरी है। संस्था के अधिकारी समझते थे कि वे उनके वेतन-भोगी नौकर हैं, इसलिए उनको उनके साथ मालिक-सी बर्ताव करना चाहिए। दोनों तरफ के ये मनोभाव उदासीनता तक ही पहुँचकर ठहर नहीं गये। संस्था के कुछ अधिकारी धीरे-धीरे उनसे जलने लगे। साधारण लोग रामगोपाल की लगन और काम की योग्यता को देखकर उनसे बहुत संतुष्ट थे। इसीलिए अधि-कारी उन्हें निकालने में असमर्थ थे, किन्तु वे इसके लिए मौका ताक रहे थे।

❀ ❀ ❀

रामगोपाल को वहाँ रहते दो वर्ष हो गये थे। इस बीच में

उनकी बहुत से लोगों से घनिष्ठता हो गई थी। संस्था के प्रधान ने एक अनाथ लड़के को पाल रक्खा था। वे उसे बेटे की तरह मानते थे। रामगोपाल भी उस पर प्रेम करते थे और वह उनके घर पर आया जाया करता था। घरवालों की नाराजी या झिड़की पर वह कभी-कभी एक आध दिन रामगोपाल के यहाँ ही रह जाता था। लड़का एक दिन सन्दूक में मालकिन का सारा जेवर लेकर रामगोपाल के घर पर चला आया। रामगोपाल को इसका क्या पता? उन्होंने पहले की तरह उसे फिर घर में रहने दिया। लड़के ने जेवर रामगोपाल के एक बक्स में रख दिया। प्रधान को मालूम ही था, कि लड़का रामगोपाल के घर गया होगा—और जेवर की चोरी सुनने पर, उसे भी वही ले गया होगा, इसका भी उन्हें विश्वास था। उन्होंने दो-चार और साथियों को चोरी की खबर दी और उन्हें लेकर रामगोपाल के घर पहुँचे। लड़के को धमकाया और सन्दूक से जेवर निकल आया। लोगों ने समझा रामगोपाल ने ही चोरी करवाई।

रामगोपाल को ऐसी आशा न थी। वे आत्मसम्मान को सबसे बड़ी चीज समझते थे। वे ऐसी स्थिति में डाल दिये गये थे, जहाँ कोई सफाई न पेश कर सकते थे और न लोग उसे मानने को तैयार थे। रामगोपाल धनी भी न थे, इसलिए भी चोरी का इल्जाम उन पर आसानी से लग सकता था। वे सच्चे थे, इसे वे खूब समझते थे, लेकिन वे तो देखते थे दुनिया उन्हें क्या समझ रही है। कई बार दिल में प्राण दे देने की इच्छा पैदा हुई। संसार से उन्हें ग्लानि हो गई। वे समझते थे कि इस काले धब्बे के बाद उनकी आदर्शवादिता के लिये स्थान नहीं रह गया। कौन उन पर विश्वास करेगा? मन की सचाई का यही फल हुआ कि वे सहसा आत्मघात करने पर तैयार न हुए। उन्होंने अपने एक घनिष्ठ

मित्र को सारा विवरण लिख भेजा और यह भी प्रकट कर दिया कि वे जीवन से निराश हैं। मित्र, रामगोपाल को अच्छी तरह जानता था। वह यह भी जानता था कि एक बार चूक जाने पर भी सुधरने का अधिकार आदमी के हाथ से हमेशा के लिए छिन नहीं जाता है, और यहाँ तो वे बिलकुल निरपराध थे। उसने स्पष्ट और निस्संकोच भाव से उन्हें यह सब समझाकर लिखा और अपने पास लाहौर बुला लिया। उस घटना का रामगोपाल पर कितना असर पड़ा यह इसी से मालूम होता है कि वे अपने उक्त मित्र की इस साधारण सान्त्वना के लिए उसे वे जीवनदान देनेवाला समझते थे। लाहौर में अपनी जीविका के लिए कुछ ट्यूशन का प्रबन्ध उन्होंने कर लिया। किन्तु अभी वे समझते थे कि हम अपने आदर्श के योग्य नहीं रहे। लेकिन समय भी ऐसी परिस्थिति में बड़ा हितैषी सिद्ध होता है। छः महीने बीतते बीतते उनके दिल के सारे घाव भर गये। और फिर वही पुराने विचार उनके सामने उपस्थित हुए। तो भी रामगोपाल ने व्याख्यान का काम छोड़ दिया। उनकी इच्छा थी अपने को कुछ और तैयार करने की। जिमनास्टिक की कसरत वे जानते ही थे, लेकिन किसी स्कूल या कालेज में काम करने के लिए उन्हें सार्टिफिकेट की आवश्यकता थी। थोड़े दिनों में उन्होंने वह भी प्राप्त कर लिया। लाहौर में उनकी एक मित्र-मंडली बन गई और धीरे धीरे कितने और लोगों ने उनके गुणों को समझा। उसी वक्त बालक कैदियों (बोरस्टल) के जेल में एक अध्यापक की आवश्यकता हुई। रामगोपाल उस स्थान पर नियुक्त कर लिये गये।

रामगोपाल के एक-दो आदर्शवादी मित्र उस समय लाहौर में शिक्षा पा रहे थे। आदर्शवाद और दरिद्रता का चोली-दामन का सबंध है। यही बात उनके दोस्तों के बारे में भी थी। यद्यपि उनके

पोस्त नही चाहते थे, लेकिन रामगोपाल कब माननेवाले थे। जेल मे पढाने के अतिरिक्त जो समय बचता, उसमे भी उन्होंने दो ट्यूशन पकड रक्खे थे। अपने शरीर पर कम से कम खर्च कर वे अपने मित्रो की सहायता करते थे। वर्षों वे ऐसा करते रहे। उनकी स्त्री, बाप के यहाँ जितना पढा जा सकता था, उतना पढ चुकी थी और उन्हे और पढाने की आवश्यकता थी। रामगोपाल इसे अपना कर्त्तव्य समझते थे। लेकिन कहने पर कह देते थे—"क्या मेरे परिश्रम का वहाँ इतना फल हो सकता है, जितना कि अपने आदर्शवादी मित्रो की सहायता करने मे?" उन्होने तब तक अपनी स्त्री को पास न बुलाया, जब तक उनके मित्रो को उनकी सहायता अपेक्षित रही।

दूसरो को कष्ट के वक्त सहायता देने मे और दूसरे के लिए कष्ट सहने में उन्हे आनन्द मालूम होता था। मृत्यु उनके लिए भय की चीज न थी। भयकर प्लेग के बीमारो की सेवा करने मे भी उन्हे जरा भी डर नहीं मालूम होता था। बीमार के पास रात-रात बैठे रहने में उनके चित्त में गर्व होता था। अभिमान तो उन्हें छू नहीं गया था। साथ ही वे दूसरे के अभिमान को पसन्द भी न करते थे, लेकिन अपने इस भाव को वे वचन या कर्म द्वारा न प्रकट कर सिर्फ अलग रहकर हाजिर करते थे। बराबर वालो की तो बात ही क्या अपने से बहुत छोटी स्थिति वाले लोगो मे मिल कर वे अपने को भुला देते थे।

वे अपने वर्त्तमान से सतुष्ट न थे। उनकी सबसे बडी इच्छा थी, सेवा के लिए कुछ और साधन-सम्पन्न होने की। धनी होने के लिए उनको चाह न थी। वे अपनी गरीबी से सतुष्ट थे। किन्तु वे चाहते थे कि कुछ और पढ लें। उनका ध्यान प्रवासी भारतीयो की सेवा की तरफ था। वे अपने साथ-साथ पत्नी को भी इसके लिए तैयार

कर रहे थे। वे अपने मित्रों को इसके बारे मे बराबर लिखा करते थे। धीरे-धीरे हो रही अपनी प्रगति को देखकर वे यह भी समझने लगे थे कि स्वप्न को सामने आने मे अब बहुत दिनो की देर नही है। अपने काम के लिए वे सस्कृत काफी जानते थे। अँगरेजी भी कामचलाऊ हो गई थी। पत्नी की शिक्षा मे भी उन्हे काफी सफलता मिली थी।

१९१९ का अप्रैल आया। रौलट कानून को लेकर सारे राष्ट्र मे जैसा विद्रोह फैला उसमे पजाब भी अछूता न बचा। छ अप्रैल को एक गिलास और एक प्याऊ पर हिन्दू मुसलमानो को पानी पीते देख लोग दग रह गये। थोडे समय के लिए राष्ट्र ने धर्म और सम्प्रदाय का भेद भुला दिया। रामगोपाल भी इसे देख रहे थे। कुछ ही दिनो बाद जलियानवाला बाग काड हुआ, जिससे हिन्दुस्तान का कोना-कोना थर्रा उठा। लाहौर तो बिलकुल पास मे था। उसकी हालत के लिए क्या कहना? बाद मे तो खुद लाहौर भी मार्शल ला का शिकार हुआ। रामगोपाल अनाथालय के उस तरुण मुशीराम को अच्छी तरह जानते थे, जिसने सारी गोलियाँ अपनी छाती पर सही थी। उसकी मृत्यु के बाद परीक्षा का परिणाम निकला। मालूम हुआ वह शास्त्री पास हो गया। मुशी की वीरगति का वर्णन करते करते रामगोपाल गद्गद् हो जाते थे। उनकी आँखो से आँसू निकलने लगते, लेकिन वह शोक के कारण नही। उनको ऐसी वीर-मृत्यु पर ईर्ष्या होती थी।

समय बीता और महात्मा गाधी का असहयोग आया। रामगोपाल के लिए परीक्षा का समय था। अन्य नौजवानो की तरह देश की स्वतन्त्रता के इस महान् सग्राम मे वे कूद पड़ने को तैयार थे लेकिन उन्होंने अपने लिए एक लक्ष्य सालो पहले से बना रक्खा था। मित्रो को भी समझाने की आवश्यकता पडी—देश के

भीतर असहयोग के लिए आदमियो की कमी नही हो सकती, लेकिन विदेश मे जाकर भारतीयो की सेवा करने के लिए आदमियों का मिलना आसान नही। कुछ महीनों तक उनकी अवस्था डॉवा-डोल रही, लेकिन फिर सँभल गये।

❀ ❀ ❀

उनका मित्र दो साल के लिए जेल मे था। जेल मे भी पत्र-व्यवहार जारी था। यद्यपि उस पत्र-व्यवहार मे खुलकर वे अपने आदर्शों के सम्बन्ध मे लिख न सकते थे, लेकिन उनके मित्र को पत्रो से यह मालूम हो गया था कि रामगोपाल अब अपने कार्य क्षेत्र मे जाना चाहते है। मित्र ने जेल से छूटने पर बड़े उत्साहपूर्ण शब्दो मे उनको इसके लिए साधुवाद दिया और उधर से भी वे ऐसे ही उत्साहवर्धक पत्र की प्रतीक्षा करते थे। इसी समय उसे अपनी ही चिट्ठी लौटकर मिली। पत्र के ऊपर एक कोने मे लिखा हुआ था—"रामगोपालजी अब इस ससार मे नहीं रहे।"

घंटो नही दिनो उसे इन अक्षरो पर विश्वास नही होता था। भीतरी चाह मनवाना चाहती थी कि यह गलत है। महीनो बाद दोनो के सम्मिलित मित्र से पता लगा, कि बात ठीक है। सम्मिलित मित्र उस समय वहीं थे, जब कि रामगोपाल प्लेग से बीमार हुए। उनके दो बच्चे उसी बीमारी मे मर गये और पीछे वे भी अपने अरमानो को हमेशा के लिए दबाकर चल बसे। मित्र को यही अफसोस रहा कि दूसरे मित्र की तरह अन्त समय वह अपने मित्र की सेवा न कर सका, ऐसे मित्र की सेवा, जो उसे ससार मे सबसे बढ़कर अपना स्नेहभाजन समझता था।

९

घुरबिन

(धक्षित नेतृत्व)

"पाँड़े जी पालगी।"

"क्यों बे जबान सँभाल के नहीं बोलता?"

"पाँडे जी, नाराज मत होइए। आप ब्राह्मण हैं, इसलिए पा-लागी करता हूँ।"

"क्या हमको पा लगी की जाती है?"

"सलाम करना होता तो मुझे आपसे बोलने की भी जरूरत न थी।"

"जा हट जा सामने से।"

"अच्छा तो देखिएगा", घुरबिन ने जवाब दिया।

शेखू पुर के पाँड़े, मेहनगर के राज-वंश के गुरु थे। मुसलमानी जमाने में मेंहनगर का कोई राजपूत मुसलमान होकर हिजड़ा बन गया था। धीरे-धीरे दिल्ली में वह बादशाह का ख्वाजा सरा (अन्त पुर का प्रधान अधिकारी हिजडा) बन गया। बादशाह ने खुश होकर हिजड़े को कुछ देना चाहा, और इस प्रकार उसके भाई को मेहनगर के आस-पास का राज्य मिल गया। (ये लोग उस समय हिन्दू थे पीछे मुसलमान हो गये)। शेखू पुर के पाड़े, उनके पुरोहित थे। मुसलमानी सम्पर्क मे आने से पाँडे के खानदान को

भी सलाम करने की प्रथा चल पड़ी और घुरबिन ने दरअसल जगलाल पाँडे को चिढाने ही के लिए पा-लागी की थी। घुरबिन तीस-पैंतीस बरस का सुन्दर छरहरा नौजवान था। भारत में पीछे से आई अहीर (आभीर) जाति के होने से उसकी मुखमुद्रा आर्य थी। ६ फुट का लम्बा शरीर आग की तरह दहकता गोरा रङ्ग और मूछों तक के भूरे बाल इसके साक्षी थे। पतला होते हुए भी उसका शरीर बहुत बलिष्ठ और फुर्तीला था। दौड़ने मे उसकी ख्याति थी कि वह घोड़े को पकड़ सकता था। लाठी चलाने में इतना होशियार था कि अकेले ही पचास लट्ठधारियों को भगा सकता था।

घुरबिन उन आदमियों मे था जिनकी बात मानने के लिए लोग स्वेच्छापूर्वक तैयार हो जाते हैं। खर्च-वर्च मे वह उदार था। अपने साथियों के दुख-सुख को अपना दुख-सुख मानने वाला था और इनके लिए अपना सर्वस्व देने के लिए तैयार रहता था। भय तो उसे छू तक नही गया था। इस प्रकार सब तरह से घुरबिन मे एक स्वाभाविक नेता के सभी गुण मौजूद थे। यदि वह अपने समय से कुछ शताब्दियां पूर्व पैदा हुआ होता तो अपने बाहुबल, पराक्रम और नेतृत्व से एक छोटा-मोटा राज्य स्थापित करने में सफल होता। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में—जब की हम बात कह रहे हैं—भारत में अँगरेजों की राजशक्ति मजबूत हो चुकी थी। बड़े पैमाने पर किसी को कुछ करना सभव नहीं था। घुरबिन की स्वाभाविक योग्यता के अनुसार काम करने का और कोई अवसर न था। खुल्लमखुल्ला सरकारी शक्ति और उसके कानून का विरोध करना उसकी सामर्थ्य के बाहर था। उसके पास बीस-तीस भैंसे थीं, कुछ गायें थीं, कुछ धान तथा जौ-गेहूँ के खेत भी थे, और यह उसके दस-बारह आदमियों के परिवार के गुजारे के लिए

काफी था। लेकिन घुरबिन ने तो अपने गुणों से राह चलतों को भी आकृष्ट कर रक्खा था। उसके मित्रों और अनुयायियों की संख्या भी बढ रही थी। इस प्रकार मित्रों की सहायता जहाँ उसे कानून को अपने हाथ में लेने को मजबूर करती थी, वहाँ उसका बढता हुआ खर्च भी कोई नया रास्ता चाहता था। घुरबिन को नया जीवन स्वीकार करने पर बाध्य होना पडा। वह एक नौजवानों के दल का स्वनिर्वाचित नेता बन गया। यह दल चोरी करता था लेकिन कितनी ही बार वह अपने को डाकू के रूप में बदल लेता था। घुरबिन ने अपने अनुयायियों के लिए कड़े नियम बना रक्खे थे—गरीब को नही सताना, विधवा और अनाथ को नही लूटना—यह उसका कडा आदेश था। इसे उसके अनुयायियों को हर हालत मे पालन करना पडता था। वह अपनी अवैध आमदनी से समय-समय पर गरीबों की सहायता करता था। पुलिस की उस पर कडी निगाह थी और कई बार दारोगा उसे पकडने के लिए आये, लेकिन वह उनके हाथ में न आता था। कितने ही दारोगा को उसने पीटा था और कितनो की घोडी छीनकर पैदल जाने पर मजबूर किया था। चोर होते हुए भी अपने त्याग, साहस और निर्भीकता के कारण घुरबिन की ख्याति चारों ओर हो गई थी। गाँव से दस-दस, बीस बीस कोस तक कोई ऐसा न होगा जो इस अनोखे चोर को न जानता हो।

शेखू पुर के जगलाल पाडे की बडी धाक थी। उनके पास काफी जमीन्दारी थी। और वे अपने जिले के धनी-मानी आदमियों में गिने जाते थे। सब लोग मेरा रोब मानते हैं इसका भी उन्हें अभिमान था। घुरबिन का घर शेखूपुर से तीन-चार मील दूर था। वह शेखू पुर की जमीन्दारी मे भी न बसता था। क्या कारण था जो घुरबिन ने उस दिन जानबूझकर पाँड़े जी को चिढाना

चाहा ? हो सकता है उसे पाँड़े जी के रोब की ख्याति से ईर्ष्या हो गई हो। अथवा रोब-दाब रखने के लिए पास-पड़ोस के निर्बलों पर पाँड़े जी जो अत्याचार कर डालते थे, उससे घुरबिन को प्रेरणा मिली हो। ब्राह्मण के लिए सलाम, यद्यपि अजीब सी बात थी, लेकिन घुरबिन को धर्मशास्त्र से क्या मतलब ? उसके लिए तो काला अक्षर भैंस बराबर। हाँ, लोकरूढ़ि से वह भी समझ सकता था कि यह अनुचित है, लेकिन इस अनौचित्य का अपराध अगर किसी पर था तो जगमल पाँड़े के पुरखों पर।

❀ ❀ ❀

"क्यों मँगरू, देख आये ?"

"हाँ भैया घुरबिन, देख लिया। गोसार के पीछे की दीवार कच्ची है। इसी को काट कर बैलों को निकाल लायेंगे।"

"नहीं ऐसा नहीं करना होगा। दरवाजे से लाना होगा।"

"दरवाजे की तरफ तो पाँड़े जी और उनके नौकर-चाकर सोये हुए हैं।"

"उन्हीं को तो दिखाना चाहते हैं कि घुरबिन क्या कर सकता है। मैं और सोमारू दोनों जने उनके पास खड़े होते हैं और तुम लोग बैलों को निकाल ले जाओ।"

"अच्छा" कहकर मँगरू और उसके साथी अपने काम में लगे और सोमारू के साथ घुरबिन उस जगह गया, जहाँ जेठ की गरमी के कारण पाँड़े जी और उनके नौकर आसमान के नीचे सोये हुए थे। घुरबिन और सोमारू अपनी लम्बी लाठी टेककर सामने खड़े हो गये। आधी रात बीत चुकी थी। लोग बेखबर सोये हुए थे। तो भी यह सम्भव नहीं कि जिस आध-पौन घंटे में घुरबिन के साथी एक दर्जन बैलों को पकड़कर ले जा रहे थे, उस वक्त उनकी

आवाज से सोनेवालों में से किसी की नींद न खुली हो। सम्भव है नौकरों में से किसी की आँख खुली भी हो। उन्होंने सामने पाँच हाथ का लट्ठ लिये दो बिकराल यमदूतों को देखा हो और उनकी आँखें फिर ढँप गई हों। कुछ भी हो इसमें तो शक नहीं कि उनमें से किसी ने उस वक्त करवट तक न बदली। साथियों के निकल जाने पर घुरबिन ने कुछ ऊँची आवाज से कहा—"पाँडे जी!" पाँडे जी अब भी चुप थे। उसने फिर ऊँचे स्वर में पाँडे जी कहा। फिर पाँडे जी को जगा देखकर बोला—'पाँडे जी पा-लागी। आपके बारहों बैल चले जा रहे हैं। हिम्मत हो लौटा लीजिए।"

❀ ❀ ❀

जगलाल पाँडे की आसपास में बड़ी धाक थी। लोगों का कहना था उनके सामने तिनका जल उठता है। लेकिन घुरबिन ने उनकी सारी शान मिट्टी में मिला दी। वह सामने से उनके बारहों बैलों को पकड़ ले गया। यही नहीं कि पाँडे जी के कीमती बैल चोरी चले गये, बल्कि आषाढ महीना सिर पर था और खेती के लिए उनकी बड़ी आवश्यकता थी। वे जानते थे कि बैल घुरबिन ले गया है। उन्होंने दूसरों से घुरबिन के पास सन्देश भिजवाया। घुरबीन ने उत्तर दिया—"बैल लौटाये जा सकते हैं लेकिन एक शर्त पर, मैं 'पालगी' कहूँ और पाँड़े जी 'जै हो' कहें।"

अन्त में पाँडे जी को 'जै हो' कहना ही पड़ा।

१०

दलसिंगार

(कली फटने भी न पाई)

दोनो की एक ही उम्र थी, लेकिन रिश्ते मे एक था नाना और दूसरा नाती। दोनो मे बडा प्रेम था। ऐसा प्रेम कि दोनों के घर-वालो का जब आपस मे बोलना-चालना बन्द रहता था, तब भी उसका इन दोनो के सम्बन्ध पर कोई असर न होता था। यद्यपि दोनो अभी ६ या सात वर्ष की उम्र के थे, लेकिन तो भी दलसिगार नाना से, उसका नाती कद में कुछ लम्बा मालूम होता था। दोनो के घर गाव के दो टोलो मे थे, और जिस स्कूल मे वे पढने जाते थे, वह गाँव से एक मील पर था। स्कूल के लिये रवाना होने से पहले एक दूसरे को लिवाने के लिए घर पर जाना पडता था। उस उम्र मे भी समझने की शक्ति रखते थे कि दोनो घरो मे मनमुटाव होने पर कैसे तिर्छी आँखो से घरवाले उनकी ओर देखते है, लेकिन एक दूसरे की मुहब्बत के कारण उसे वे अनदेखी कर देते थे। सवेरे का नाश्ता कर छ ही बजे वे निकल जाते थे। दोपहर को दोनो साथ खाने के लिए घर लौटते थे और दोपहर बाद फिर स्कूल चले जाते थे। दिन भर मे चार मील का आना-जाना उनके लिए कोई बात न थी।

उस लडकपन की दुनिया मे भी उनके पास बातचीत के लिए काफी मसाला था। उनके पास न उतना ज्ञान था और न किताबें

और न अध्यापक ही उन्हे वे बातें बतला सकते थे, जिनसे कि वे किसी दूर की बात पर सोच सकते। दोनो उर्दू पढते थे और उनके कान मे यह भनक जरूर पड़ गई थी कि उर्दू पढ़नेवालो को सरकारी नौकरी जल्दी मिल जाती है।

पढने-लिखने मे दोनो ही उतने मिहनती न थे और उतनी मिहनत की आवश्यकता भी न थी, क्योंकि उनकी स्मृति इतनी अच्छी थी कि स्कूल की जो दो एक पाठ्य पुस्तके थी वे एक बार फिर से देखने ही से याद हो जाती थी। सभी लड़कों की तरह उनको भी खेलने का बहुत शौक था, लेकिन घरवालो के सामने होते ही उनकी आजादी छिन जाती थी। घर के लोग समझते थे कि खेलने से लड़के खराब हो जाते है और कूद फाँद मे हाथ-पैर टूटने का डर रहता है। गाँव मे पहुँचने के बाद लड़कों के खेल मे शामिल होना उनके लिए मुश्किल जरूर कर दिया गया था, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि वे ऐसे खेलों मे कभी शामिल ही नहीं हुए। एक बार दलसिगार और उसका साथी दूसरे लड़कों के साथ कबड्डी खेल रहे थे। दल बाँधते वक्त दोनो एक दूसरे के विरोधी दल मे चुन लिये गये। दलसिगार कबड्डी पढाते आया। उसके साथी ने उसे पकड़ना चाहा। धरपकड मे साथी के हाथ का चादी का कड़ा दलसिगार के एक दाँत मे इतने जोर से लगा कि उसका एक कोना टूटकर निकल गया। खैरियत हुई कि वह होठ और दूसरी किसी जगह नही लगा। दलसिगार के दूध के दाँत टूट चुके थे, इसलिये उसे अपने दोस्त की ओर से यह एक चिरस्थायी चिह्न मिला।

स्कूल प्रायमरी का था। वहाँ घडी भी न थी और न समय जानने का कोई साधन ही था। कभी कभी छुट्टी कुछ सबेरे हो जाती थी और इसके लिए दोनो मित्रो को अच्छा रास्ता एक

सहपाठी ने बतलाया था। उसका कहना था कि भौंह का एक बाल नोच कर कागज में लपेटकर यदि धूप में डाल दिया जाय तो दिन जल्दी कट जाता है। दोनों मित्रों के दोन या चार भौंों के बाल जरूर इस काम के लिए खर्च होते थे, और इसका फल भी उनकी इच्छा के अनुकूल होता था। अपने घर तो वे नित्य की तरह सूर्यास्त ही को पहुँचते थे, लेकिन बीच के समय को रास्ते में, गिल्ली डंडा या किसी दूसरे खेल में बिता देते थे।

बचपन के दिन मधुर होते है और साथ ही बहुत लम्बे भी होते हैं।

❀ ❀ ❀

दोनो मित्रो को स्कूल जाते दो वर्ष हो गये। आषाढ का दिन था, लेकिन वर्षा अभी शुरू नहीं हुई थी। स्कूल के अध्यापक को फूलो का बहुत शौक था। उस दिन सवेरे लडको के बैठने के टाट पीटकर साफ किये गये, फर्श को अच्छी तरह झाडा गया। स्कूल का हाता साफ किया गया और अंत में गेंदे के छोटे छोटे पौधों को पाँती से स्कूल के हाते में लगाया गया। सारा दिन लडको का इन्ही कामो मे खर्च हुआ। शाम को आसमान मे बादल दिखाई देने लगे। छुट्टी रोज से कुछ पहले हुई, लेकिन दलसिंगार और उसके साथी को इस सबेरे की छुट्टी से प्रसन्नता न हुई। दोपहर बाद दलसिंगार ने दो तीन बार कै की। उसकी आँखें लाल थीं। साथी बदन छूकर साफ देख रहा था कि वह जल रहा है। दल-सिंगार दोपहर बाद से स्कूल के काम मे भाग नहीं ले सका। वह एक जगह बैठा रहा। घर चलते वक्त साथी ने देखा कि दलसिंगार को चलते मे तकलीफ हो रही है। दस-बीस बार थोड़ी-थोडी दूर

पर बैठते वह स्कूल की ओझल में चले आये, लेकिन अब दल-सिगार के लिए एक कदम भी आगे चलना मुश्किल था। उस वक्त रास्ते में भी कोई चलनेवाला आदमी नहीं था। मिलने पर भी वह उससे सहायता की प्रार्थना करते इसमें सन्देह था। साथी ने दलसिगार को अपनी पीठ पर चढ़ने के लिए कहा लेकिन वह उसे लेकर दस कदम भी नहीं चल सकता था। उसने पीठ चढ़ने का खेल शायद कभी खेल न पाया था और उसे बोझ ढोने का अभ्यास भी न था। थोड़ी दूर पर दोनो मित्र बैठ जाते। दल-सिगार कहता कि उसका पैर फट रहा। उसका साथी बैठकर पैरो को दबाता। दलसिगार की लाल आँखों को देखकर साथी के मन में भय का सचार होता था। पैर की पीडा से दलसिगार की आँखें आँसू से भर जाती थीं। इस पर साथी भी अपने आँसुओ को न रोक सकता था। दो-चार बार के और प्रयत्न करने पर जब दलसिगार की पीड़ा अधिक बढ़ जाती और वह रोने लगता तो साथी भी उसमें शामिल हो जाता। फिर दस-पन्द्रह मिनट दोनो रोकर बिताते। आसमान में बादल था। सूरज के न दिखाई देने से उन्हे यह न मालूम था कि दिन कितना है। रात पड़ने के डर से एक बार फिर दोनो हिम्मत करते। साथी दल-सिगार को फिर अपनी पीठ पर चढ़ाता और आठ-दस कदम पर पहुँच कर गिर पड़ता था। फिर पन्द्रह मिनट तक सान्त्वना के दो-चार शब्द, पैरो का दाबना और रोना शुरू होता था। थोड़ी देर में जब रात की ओर ख्याल जाता, तो फिर चलने के लिए वैसी ही हिम्मत करते। स्कूल से उनका घर एक मील रहा होगा, लेकिन मालूम नहीं कितनी सौ बार उन्होंने इस रास्ते को तय करने के लिए दिल कड़ा किया। घडियाँ नहीं, मालूम देता था, कई युग उनके इसमें बीत गये। आखिर किसी तरह दलसिंगार अपने

साथी की पीठ पर शाम को घर पहुँचा। उस वक्त साथी की भी अवस्था दलसिगार से अच्छी न थी।

गाँव मे कुछ और लोगो को भी कै-दस्त हुए। देवी ने एक स्त्री के शरीर पर आकर कहा—"मैं तो अपना रास्ता पकड कर जा रही थी। यही दाना लडके मुझे यहाँ लाये। अब मैं खाली हाथ चुपचाप थोड़े ही जानेवाली हूँ।"

गाव मे कुहराम मच गया। दलसिगार का साथी अपने नाना-नानी के यहाँ रहता था। नाना-नानी के एक ही लडकी थी, जिसके लडके को वे बड़े लाडप्यार से रक्खे हुए थे।

नानी ने कहा—"हम लोग तो बूढे-बूढी हैं, बच्चे को तो इस आग मे नहा रखना चाहिये।"

"अच्छा तो बच्चे को घर भेज देना चाहिय," कह नाना ने उत्तर दिया।

दूसरे ही दिन दलसिगार का साथी अपने पिता के घर भेज दिया गया।

❀ ❀ ❀

देवी अपनी बात की सच्ची निकली। उस छोटे गाँव मे भी उसने पन्द्रह आदमियो को लिया। दलसिंगार को उसने छोड दिया। ऐसा होना भी चाहिये था, क्योंकि गाँव पर पहुँचाने मे दलसिगार ही तो उसका वाहन बना था। कई दिनो तक दल-सिगार मृत्यु के मुख मे पडा रहा। माँ ने भगवती के लिये शतचडी के पाठ की मिन्नत माँगी। कुछ और छोटे बडे देवताओं के सामने भी गिडगिडाया गया। इस प्रकार किसी तरह दलसिगार के प्राण बचे।

दलसिगार के साथी के खेद की सीमा न थी जब उसने देखा कि उसे अकेले ही स्कूल जाना पड रहा है। बीमारी को गये दो-

तीन महीने हो गये थे। दलसिगार का शरीर भी पहले जैसी हालत में न था। पहले तो उसने समझा कि बीमारी से उठने के कारण दलसिगार स्कूल नही भेजा जा रहा है। दोनो दोस्त रोज मिलते थे। रोज दलसिंगार को दूसरे दिन स्कूल चलने के लिए आग्रह होता था। किंतु घरवालो की आज्ञा न मिलती थी। अपने मित्र की तरह दलसिगार भी अधीर हो चला। बहुत आग्रह करने पर दलसिगार की माँ ने कहा—"बेटा, हमारे घर मे पढना नहीं सहता। हमारे दो जेठ पढकर बडे पडित हुए। आज भी देखो पच्छिमवाले घर की चौकी पर उनकी पोथियो की ढेर लगी हुई है। दोनो को एक खाट पर लदकर जाना पडा। बच्चा, जिन्दगी रहेगी तो बहुत है। पढकर क्या करोगे?"

लडके पर माँ का सबसे बडा हक है। दलसिगार को स्कूल जाने की बहुत इच्छा थी, यद्यपि वह इच्छा विद्या के लिए उतनी न थी जितनी कि साथी के सग के लिए। घर के सयाने भी स्कूल जाने के उतने विरोधी न थे, लेकिन मा जब जवानी मे एक ही दिन मरे अपने दोनो जेठो के पढने का उदाहरण देती, तो किसी को बोलने की हिम्मत न होती थी।

दलसिगार का साथी अब रोज अकेले चार मील का रास्ता काटता था। रास्ते मे उसके साथ बात करनेवाला, खेल मे साथ देनेवाला कोई न था। कैसे सूने, कैसे नीरस वे दिन कटते थे, यह वही जानता था। दलसिगार अब अपने घरवालो के छोटे-छोटे कामो मे मदद देता था। दोनो मित्र अब भी हर दूसरे-तीसरे एक-दूसरे से मिलते थे। अब भी दोनो एक-दूसरे से अपना प्रेम प्रकट करते थे, लेकिन दोनो के रास्तो मे अब अन्तर था। एक स्कूल के रास्ते पर प्रस्थान करता था तो दूसरा हसरत की निगाह से उसकी ओर देखता था।

दो बरस और बीत गये। साथी अब चौथे दर्जे का विद्यार्थी था। दलसिंगार यद्यपि इस सारे समय घर ही पर रहने के लिए मजबूर किया गया, तो भी उसके स्कूल जाने की इच्छा कम होने की जगह दिन पर दिन बढ़ती ही गई। कितनी ही बार उसने, बालकों के महान् अस्त्र, रोने का प्रयोग किया। कितनी ही बार इसके लिए खाना छोड़ दिया, कितनी ही बार दूसरे वैसे और अनेक तरीके इस्तेमाल किये। यद्यपि इसमें असफलता ही रही, तो भी उसने हिम्मत न हारी। घरवालों ने भी माँ को समझाना शुरू किया। दिन बीतते जाने से पुत्र की बीमारी की भयंकरता की स्मृति भी उसके मन से फीकी पड़ती गई। अन्त में दलसिंगार को फिर स्कूल जाने की अनुमति मिल गई।

दोनों साथी फिर साथ-साथ स्कूल जाने लगे। रास्ते में फिर पहले ही की तरह खेल और तमाशे में उनके दिन हँसी-खुशी में कटने लगे।

लेकिन उनके दिल में सुई-सी चुभने लगती थी जब वे देखते थे कि उनकी कक्षाओं में दो साल का अन्तर आ गया है। अब दोनों एक ही जगह टाट पर अगल-बगल नहीं बैठ सकते थे। एक चौथे दर्जे में था, दूसरा दूसरे दर्जे में। अब दोनों एक साथ अपने भौंहों के बालों को धूप में नहीं डाल सकते थे। इसलिए दिन भी जल्दी नहीं कटता था। तो भी उनके मन में इतना संतोष था, कि घर से स्कूल तक दोनों एक साथ रह सकते हैं।

❀ ❀ ❀

आखिर वही हुआ जिसका कि दलसिंगार की माँ को डर था। अब की रास्ता चलते कोई देवी नहीं मिली। दलसिंगार के साथी को यही मालूम हुआ कि उसका दोस्त बीमार हो गया है। अब भी वह रोज एक बार उसे देखने जाता था। बुखार था और

कोई और भी बीमारी थी। साथी के आने पर माँ बड़े प्रेम से कहती—"चलो बच्चा, देख लो। तुम्हारा दोस्त तुमको याद कर रहा है।"

नित्य की तरह साथी आज भी दलसिंगार के घर गया। अब बीमारी को महीना से ज्यादा हो गया था। दलसिंगार रोज रोज कमजोर होता जा रहा था, लेकिन आज उसके साथी ने देखा कि दलसिंगार का सिर फूल कर कई गुना भारी हो गया, पलकों की सूजन मे आँखों का कहीं पता नही। उसके नन्हें दिल मे अब तरह-तरह की आशंकाये उठने लगी। ऐसी आशंका जिनका आधार उसको स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ता था, लेकिन दिल के भीतर एक तरह की ठढक या टीस मालूम होती थी। दलसिंगार आज अपने दोस्त को न आँख से देख सका और न बोल सका।

दो दिन बाद दलसिंगार चल बसा। उसकी माँ रो रही थी—"हाय, मैंने क्यों अपने पूत को पढने जाने दिया?"